पण्डितों का संसार

काशीस्थमुख्यपण्डितमण्डलीयम् ।
हथुवापुरपुरन्दरेण दर्शनार्थं प्रतिकृतिमापादिता ।
म॰म॰ श्री गङ्गाधरशास्त्री सी॰आई॰ई॰ । म॰म॰ श्री कैलासचन्द्रशिरं

संसार में पण्डित

राधावल्लभ त्रिपाठी

सामान्यत: पण्डित उस व्यक्ति को माना जाता है, जिसके पास पारम्परिक प्रज्ञा की पूँजी हो तथा जो प्राचीन ज्ञान-व्यवस्थाओं या शास्त्रों का प्रामाणिक जानकार हो। शास्त्र-विशेष की पंक्तियाँ खोलने की क्षमता के साथ ग्रंथ की पूर्वापर संगति का बोध कराते हुए शास्त्र की मीमांसा करना भी पण्डित की पहचान रही है। इस अवधारणा में पण्डित को आधुनिक ज्ञान-प्रणालियों तथा आधुनिक जीवन से विलग मान लिया जाता है, जो सही नहीं है। परम्परा और आधुनिकता के बीच, संस्कृत और नव्य भारतीय भाषाओं के बीच, शास्त्र और लोक के बीच एक अलंघ्य खाई है— यह तस्वीर हमारे दिमाग़ में औपनिवेशिक सत्ताओं ने अंकित की है, जिसमें आधुनिक अध्येताओं ने भी रंग भरे हैं। पण्डितों के जिस संसार की इस लेख में चर्चा की जाएगी, उसमें मूलत: ऐसी कोई खाई नहीं है। पर यह सत्य है कि पण्डित पारम्परिक ज्ञान की संचित धरोहर का प्रतिनिधि है, जो लगातार अपने समय और आधुनिकता से संवाद करता आया है। इस संवाद में उसकी उपलब्धियों और सफलताओं के साथ चुनौतियाँ, मुश्किलें और विफलताएँ भी समाहित हैं।

पण्डा (सत् और असत् का विवेक रखने वाली बुद्धि) जिसके पास हो उसे पण्डित कहा जाता है। पण्डा शब्द गत्यर्थक पडि धातु से बना है। मीमांसा दर्शन में अपूर्व या अदृष्ट विशेष के अर्थ में पण्डा एक दार्शनिक सम्प्रत्य है। उज्ज्वल बुद्धि तथा आगमजन्य ज्ञान के लिए भी पण्डा शब्द का व्यवहार हुआ है।[1] पण्डा बुद्धि का विशिष्ट तथा उज्ज्वलतर रूप है, जो हर तरह की मूढ़ता का प्रत्याख्यान करता है। *अमरकोश* में पण्डित के पर्याय इस प्रकार गिनाए गये हैं—

विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः।
धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः॥
धीमान् सूरिः कृती कृष्टिर्लब्धवर्णो विचक्षणः।
दूरदर्शी दीर्घदर्शी ... (*अमरकोश,* 2.7.5-6)

ये पर्याय पण्डित की अवधारणा का निहितार्थ व्यक्त करते हैं, जिनसे ज़ाहिर है कि पण्डित होने के लिए विद्वान् और शास्त्रज्ञ होना ही काफ़ी नहीं है। पण्डित दोषों या बुराइयों की ख़बर रखने वाला, दर्शन का जानकार, कवि, बुद्धिमान्, धैर्यशाली, निपुण, दूरदर्शी और दीर्घदर्शी भी होता है। *अमरकोश* की सूची में पण्डित और कवि को पर्याय कहा गया है। दरअसल नवीं शताब्दी तक, जिस समय यह कोश तैयार हुआ, पण्डित और कवि इन दोनों शब्दों के आशय आज हमारी चेतना में इनके जो अर्थ हैं, उससे अलग रहे हैं। पण्डित केवल विद्वान् भर नहीं है, और कवि केवल कविता का सर्जक भर नहीं है। दोनों में कुछ ऐसा कर्तृत्व समान रूप से है, जो समाज को गति, दिशा और ऊर्जा देता है। इस समानता के कारण पण्डित कवि है, और कवि पण्डित है।

अतः परम्परा में पण्डित का कवि और कवि का पण्डित होना यदि सर्वथा अनिवार्य नहीं, तो अपेक्षित अवश्य है। भवभूति और श्रीहर्ष जितने मौलिक और उच्चकोटि के दार्शनिक तथा शास्त्रमर्मज्ञ हैं, उतने ही बड़े रससिद्ध महाकवि भी हैं। पण्डितों की परम्परा में यह उक्ति सगर्व उद्धृत होती आयी है— *तर्केषु कर्कशधियो वयमेव नान्ये, काव्येषु कोमलधियो वयमेव नान्ये* (तर्कों में कर्कश बुद्धि वाले भी हम ही हैं कोई और नहीं, कविता में कोमल बुद्धि वाले भी हम ही हैं, कोई और नहीं)। इसलिए पश्चिम में जिस तरह स्कॉलर और पोएट की कोटियाँ प्रायः भिन्न मानी जाती रही हैं, उस तरह हमारी परम्परा में पण्डित और कवि के बीच दूरी नहीं हैं। आज यदि हम इनमें दूरी देखते हैं तो इस दूरी की समझ युरोपीय संस्कारों से आयात हुई है। इस लेख में चर्चित सभी पण्डितों ने काव्यरचना की हो— ऐसा बिल्कुल नहीं है। परम्परा कवि और पण्डित में समाकारिता देखती है, अभेद नहीं। इसका आशय यह है कि हर पण्डित के भीतर कवि का संवेदनशील मानस होता ही है, वह रचना कर उसे व्यक्त करे या न करे। उसी तरह यह भी माना गया कि हर कवि को शास्त्रों या ज्ञान के विभिन्न प्रस्थानों का जानकार होना ही चाहिए, चाहे वह अपनी जानकारी ज़ाहिर होने दे या न होने दे।

व्यास कहते हैं—

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

महाभारत, 12.131.38

(संसार शोक के सहस्रों अवसरों से भरा है, भय के सैकड़ों प्रसंग नित्य इसमें आते हैं। मूढ़ जन इनसे आविष्ट होते हैं, पण्डित नहीं।)

पण्डित समाज और व्यवस्था में व्याप्त अनिष्टकर सन्नाटों को तोड़ते हैं, उनकी उपस्थिति आतंकित और प्रताड़ित जनों के लिए आश्वस्तिकर होती है। अंग्रेज़ी में जिसे इंटेलेक्चुअल और हिंदी में बुद्धिजीवी कहा जाता है, पण्डित शब्द उसके अर्थ का निकटतम वाचक हो कर भी इंटेलेक्चुअल या बुद्धिजीवी की

---

[1] भीमाचार्य (1978) : 460.

अपेक्षा व्यापक व अधिक गरिमामय पद रहा है (आज उसका दुरंत अर्थापकर्ष हो गया है, यह बात अलग है)।

पण्डित और विद्वान् (स्कॉलर) में मोटा अंतर है। हर स्कॉलर पण्डित नहीं होता। पण्डित अपने पढ़े और गुने को जीवन में ढालता भी है। वेदांत, सांख्य, बौद्धों और जैनों के शास्त्र हों या चार्वाक-दर्शन— इनके सिद्धांतों के साथ इनके आचार और जीवनचर्याएँ जुड़ी हुईं हैं। पण्डित का शास्त्रज्ञान उसके आचार और व्यवहार से समरस होता है।

पण्डित के इस व्यापक दायरे को इस लेख की पृष्ठभूमि में ध्यान में रखते हुए पण्डित से आशय यहाँ उन लोगों से लिया गया है, जिन्होंने साक्षात् गुरुमुख से संस्कृत के शास्त्रों का अध्ययन किया है, तथा जो या तो उन शास्त्रों के अध्ययन और अध्यापन में निरंतर लगे रहे हैं अथवा उनके ज्ञान द्वारा समाज से निरतंर गत्यात्मक संवाद स्थापित कर सके हैं। इसके अलावा यदि अन्य कारणों से कुछ लोग पण्डित कहे जाते हैं (जैसे पण्डित जसराज, पण्डित नेहरू अथवा पूजापाठ, कर्मकाण्ड आदि द्वारा जीविकोपार्जन करने वाले वाले ब्राह्मण या पुजारी आदि), तो वे इस लेख के दायरे से सर्वथा बाहर हैं।

अंबिका दत्त व्यास

पण्डा (सत् और असत् का विवेक रखने वाली बुद्धि) जिसके पास हो उसे पण्डित कहा जाता है। पण्डा शब्द गत्यर्थक पडि धातु से बना है। मीमांसा दर्शन में अपूर्व या अदृष्टविशेष के अर्थ में पण्डा एक दार्शनिक सम्प्रत्य है। उज्ज्वल बुद्धि तथा आगमजन्य ज्ञान के लिए भी पण्डा शब्द का व्यवहार हुआ है। पण्डा बुद्धि का विशिष्ट तथा उज्ज्वलतर रूप है, जो हर तरह की मूढ़ता का प्रत्याख्यान करता है।

एक बात और। समूचे संस्कृत साहित्य का अध्येतृवर्ग पुरुषवादी वर्चस्व से इस तरह आक्रांत रहा है कि पण्डित शब्द का उच्चारण होते ही हमारे मानस में तिलकधारी, धोतीधारी विशिष्ट पुरुष की छवि उभर आती है। स्त्रियाँ भी पण्डित हो सकती हैं, यह बात हमारे संज्ञान में आते-आते रह जाती है। उन्नीसवीं में जन्मी कम-से-कम दो विदुषियों को संस्कृत के पण्डितसमाज ने विधिवत् पण्डिता की उपाधि से अलंकृत किया— पण्डिता रमाबाई तथा पण्डिता क्षमाराव। दोनों की पहचान पण्डिता के रूप की जाती रही है, हालाँकि पण्डिता क्षमाराव संस्कृत की बहुत अच्छी कवयित्री थीं और शास्त्रों की गुत्थियों से उनका अधिक सरोकार नहीं था। उनके रचे छह महाकाव्यों और अन्य अनेक रचनाओं में *सत्याग्रहगीता* संस्कृत साहित्य में एक युगप्रवर्तक कृति बनी।

मेरी समझ से इन दोनों महिलाओं ने पण्डित के धर्म का निर्वाह अनेक पण्डितपुंगवों से अधिक अच्छी तरह किया। इन दो के अतिरिक्त हमारे समय में अन्य अनेक महिलाएँ पण्डित हुईं। हमारे समय में पुष्पा दीक्षित संस्कृत की परम पण्डिता हैं। व्याकरण की जटिल गुत्थियों पर अंतिम निर्णय के लिए संस्कृत के अध्येता उन पर आश्रित रहते हैं। पाणिनि व्याकरण पर असाधारण अधिकार और उसके अध्यापन की सर्वथा नयी सम्भावनाएँ उजागर करने में उन्होंने विलक्षण कार्य किया। उनका घर एक आश्रम, एक गुरुकुल और एक शोधसंस्थान एक साथ है, जहाँ देश-विदेश से व्याकरण पढ़ने के लिए लालायित छात्र आ कर महीनों टिके रहते हैं। बेटीना बाउमर आस्ट्रियन मूल की हैं और अब भारतीय नागरिक हैं। काश्मीर शैव-दर्शन और तंत्रागमों के अध्ययन में उनका काम महत्त्वपूर्ण है। वेदों पर श्रीमती सिंधु डाँगे का भी काम उद्धरणीय है। ऐसे अनेक नाम और जोड़े जा सकते हैं।

पण्डित शब्द जुबान पर आते ही एक और ग़लत छवि मन में उभरती है— कि वह ऐसा व्यक्ति है, जो जाति से ब्राह्मण है। पण्डितों की सूची में ब्राह्मणेतर वर्णों से आये हुए अनेक अच्छे पण्डित मिलेंगे। पर ऐसे पण्डितों ने अपने ब्राह्मणेतर वर्ण से सम्बद्ध होने की बात को खुल कर प्रायः उजागर

नहीं किया। अपने नाम के आगे शास्त्री, वेदालंकार, विद्यालंकार आदि उपाधियाँ लगा कर सुविधा से अपना वर्ण छिपाने में कदाचित् उन्होंने अधिक रुचि रखी। उनके मन में कहीं यह संस्कार भी रहा है कि अब वेद, शास्त्र पढ़ चुके हैं इसलिए वे अब ब्राह्मण ही हैं। चारुदेव शास्त्री और उनके पुत्र सत्यव्रत शास्त्री बीसवीं शताब्दी में संस्कृत व्याकरण के श्रेष्ठ पण्डितों में गणनीय हैं। सत्यप्रकाश सिंह और गौतम वाडीलाल पटेल का वेदविषयक अनुसंधान में तथा गणेशीलाल सुथार का न्याय-दर्शन पर उल्लेख्य कार्य है।

खुले में वर्णव्यवस्था द्वारा होने वाले भेदभाव पर चर्चा न करना बल्कि उस चर्चा को सायास दबाए रखना और प्रच्छन्न रूप से ऐसे भेदभाव को पोसते रहना— यह प्रवृत्ति बड़ी सीमा तक हमारे पढ़े-लिखे वर्ग में रही है, और संस्कृतपण्डितसमाज में तो जाति से ब्राह्मण और जाति से अब्राह्मण दोनों ही वर्गों में यह खूब है। प्रकट में *जाति न पूछो साधु की* व्यवहार में *जाति ही पूछो साधु की* बन जाता है। संस्कृत के धुरंधर पण्डितों में उदारवर्ग और प्रगतिशील वर्ग के साथ साथ एक रूढ़िवादी वर्ग सदैव सक्रिय रहा है, जिसने इस दुराग्रह को बनाए रखने और पोसने में क़सर नहीं रखी कि जो जन्म से ब्राह्मण है, पण्डित होने का एकाधिकार उसी के पास है। इसके कारण अन्य वर्ग से अध्येताओं और महिलाओं को पाण्डित्य और वेदाध्ययन तथा शास्त्राध्ययन से वंचित रखने के प्रयास भी किये जाते रहे हैं। इसके बावजूद महिलाओं तथा मुस्लिम और क्रिश्चियन वर्ग से अनेक अच्छे संस्कृत पण्डित भारत में हुए। गुलाम दस्तगीर अब्बास अली बिराजदार एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके नाम का उच्चारण या लेखन जानकार लोग बग़ैर पण्डित जोड़े कभी नहीं करते। पण्डित सैयद हुसैन शास्त्री (1933-2007) तथा हनीफ़ खान शास्त्री का भी उल्लेख किया जा सकता है। (स्व.) श्रीमती ईस्टर सोलोमन (अहमदाबाद) सांख्य-दर्शन तथा तर्कशास्त्र की प्रखर पण्डिता रही हैं।

औपनिवेशिक दौर में विशष रूप से मैकॉले की शिक्षानीति प्रस्तावित होने के बाद देश में संस्कृत शिक्षा की एक दोहरी प्रणाली विकसित हुई— एक स्तर पर पाठशाला पद्धति तथा दूसरे स्तर पर आधुनिक पद्धति। यह माना जाने लगा कि पाठशाला पद्धति से पढ़ कर निकले हुए स्नातक तो पण्डित हैं, और आधुनिक पद्धति से संस्कृत पढ़ कर निकले हुए विद्वज्जन हैं, जो अनुसंधान के आधुनिक पैमानों को अपना कर शोधकार्य कर सकते हैं। अपनी विभाजनकारी नीति के तहत संस्कृत शिक्षा में विदेशी शासन ने इस तरह से जिस कृत्रिम खाई का निर्माण किया, वह पण्डित-परम्परा के लिए और संस्कृत की समग्र शिक्षा के लिए घातक बनी। यदि अंग्रेज़ी शासन न आता, तो संस्कृत की पाठशालाएँ और गुरुकुल अपना अद्यतनीकरण करते ही, और ज्ञान-विज्ञान के विषयों का समावेश भी संस्कृतमाध्यम की पढ़ाई में अवश्य करते। इसकी प्रक्रिया भी अठारहवीं सदी के साथ आरम्भ हो चुकी थी, जिस पर चर्चा इस लेख में सम्भव नहीं है।

संस्कृत की शास्त्र-परम्पराएँ कम से कम तीन सहस्राब्दियों की बड़ी कालावधि में विकसित होती रही हैं, और इनमें आज भी विकास जारी है। इनमें भारतीय ज्ञानमीमांसा के सहस्रों विषय समाविष्ट हैं। पण्डित इनके ज्ञान द्वारा समाज की बौद्धिक चेतना के निर्माण और बौद्धिक परम्पराओं के सातत्य में रचनात्मक भूमिका का निर्वाह करते आये हैं। संस्कृत काव्य के सातत्य और विकास में भी उनकी यही भूमिका रही है।

पण्डित परम्परा को ले कर शेल्डन पोलोक[2] ने अपने निबंध 'द डेथ ऑफ़ संस्कृत' में उचित ही कहा है—

> 1750 के आसपास जब युरोपीय उपनिवेशवाद ने इस महाद्वीप में अपने पैर पसार लिए, उसके पहले की दो शताब्दियाँ (भाषा के विश्लेषण, मीमांसा, धर्मशास्त्र, दर्शन तथा अन्य विषयों में) संस्कृत के

[2] शेल्डन पोलोक (2001) : 393.

व्यवस्थित चिंतन का सबसे उर्वर आख्यान निर्मित करती हैं। चिंतकों ने पुरानी समस्याओं पर पूरी तरह नये मुहावरों में नवसंरचनाएँ प्रस्तुत कीं, पाण्डित्य की नयी विधाएँ सामने आयीं, तथा नया ऐतिहासिक ढाँचा गढ़ा गया। कुछ (पण्डित) स्वयं को या उनके प्रतिवादी उन्हें, नव्य भी कहने लगे। (अनुवाद मेरा)

पोलोक यह मानते हैं कि भारत में उपनिवेशी सत्ता की स्थापना के साथ संस्कृतपाण्डित्य का क्षरण होता गया और अंत में संस्कृत भाषा और उससे जुड़ी चिंतन और कविता की परम्पराएँ भी मर गयीं। यहाँ उनसे सहमत नहीं हुआ जा सकता।

पोलोक ने अपने लेख में उन पण्डितों की चर्चा नहीं की है, जिनके कारण दसवीं शताब्दी के बाद का काल भारतीय मनीषा का अत्यंत उर्वर काल बन सका। उन पण्डितों की कुछ चर्चा गोपीनाथ कविराज ने अपनी पुस्तक *काशी की सारस्वत साधना* में की है। इस पुस्तक में तेरहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी के बीच काशी में आ बसे उन संस्कृत पण्डितों का ब्योरा दिया गया है, जिन्होंने या तो महत्त्वपूर्ण टीकाओं का प्रणयन किया या मौलिक शास्त्रग्रंथ रचे। यदि सरसरी निगाह से भी देखें तो कविराज ने गहरे शोध के बाद जो महत्त्वपूर्ण विवरण उस पुस्तक में दिये हैं, उनमें हर बाद की शताब्दी में पहले की शताब्दी की अपेक्षा पण्डितों की संख्या बढ़ती गयी है। यह पुस्तक औपनिवेशिककाल में एक साज़िश के साथ प्रचारित इस मान्यता को ध्वस्त कर देती है कि बारहवीं शताब्दी के पश्चात् संस्कृत की चिंतन परम्पराएँ छीजती चली गयी हैं। पोलोक द्वारा संस्कृत की मृत्यु के विषय में की गयी उक्ति भी इसके द्वारा पुनर्विचार्य हो जाती है। *काशी की सारस्वत साधना* में तेरहवीं शताब्दी के चार, चौदहवीं के छह, पंद्रहवीं के बारह, सोलहवीं के बयालीस तथा सत्रहवीं के तिहत्तर पण्डित चर्चित हैं। अठारहवीं शताब्दी में अवश्य ग्रॉफ़ नीचे आया है— और इस सदी के काशीवासी तेरह पण्डितों पर कविराज ने विचार किया है। वस्तुतः अठारहवीं सदी में भी पण्डितों की संख्या कम नहीं हुई। कविराज ने इस पुस्तक की भूमिका में स्वीकार किया है कि उनका कार्य अधूरा है, और अठारहवीं शताब्दी के सारे विवरण उसमें समाविष्ट नहीं हो सके हैं। साथ ही उन्होंने अपनी उदार और व्यापक दृष्टि के अनुरूप यह भी कहा है कि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की सारस्वत साधना पर भी इसी तरह काम करने की आवश्यकता है। इसके साथ ही यह भी अवधेय है कि कविराज अपने ब्योरे पण्डितों द्वारा रचे गये मौलिक ग्रंथों या प्राचीन ग्रंथों की उनकी टीकाओं की हस्तलिखित पोथियों के आधार पर एकत्र कर रहे थे। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दियों में पुरानी पोथियों का ही बड़े पैमाने पर विनाश हुआ। इन शताब्दियों में यदि पण्डितों ने नयी पोथियाँ लिखीं, तो उनके रख-रखाव की कौन कहे?

यह भी ध्येय है कि *काशी की सारस्वत साधना* के प्रतिदर्श पर बंगाल, मिथिला, केरल और कर्णाटक के नगरों से भी ऐसे ही ब्योरे एकत्र किये जाएँ, तो ऊपर दिये गये आँकड़े बीस गुने हो सकते हैं। प्रखर तथा प्रकाण्ड पण्डित इस देश के सभी अंचलों में तथा छोटे-छोटे गाँवों में भी होते रहे हैं। इस दृष्टि से बहुत दिलचस्प पुस्तक रामचंद्र झा की *स्मृतिरेखा* (1985) है। यह झा की संस्कृत में लिखी आत्मकथा है। झा ने प्रांजल, सरस और सरल संस्कृत गद्य में अपने समय के पण्डित समाज और सारस्वत साधना को जीवंत कर दिया है। विशेष रूप से छोटे-छोटे गाँवों के अनेक पण्डितों के जो सारस्वत विग्रह उन्होंने अपनी लेखनी से यहाँ उकेरे हैं, उनकी ज्ञानदीप्ति चकित कर देने वाली है। इस आत्मकथा में मुज़फ़्फ़रपुर के पास चिकनौटा गाँव, चानपुरा, मुँगेर के तिलडीहा गाँव आदि में रामचंद्र झा के परिवार के जनों की स्मृतियों की रसगंध है, तो चकफ़तेहा, तिलडीहा और पुपरी आदि गाँवों की पाठशालाओं के वातावरण का आँखों देखा हाल बीसवीं शती के पहले दो-तीन दशकों में शिक्षा-व्यवस्था की एक तस्वीर प्रस्तुत करता है। चकफ़तेहा गाँव किस तरह स्थानीय पण्डितों अपूछ झा, गृहनाथ मिश्र, झिंगुर झा, नेवालाल झा आदि के अध्यवसाय से उस क्षेत्र में संस्कृत विद्या का एक भास्वर केंद्र बन गया था— इसका ब्योरा दिलचस्प है। यहाँ की पाठशाला में पण्डित झिंगुर शर्मा के

अध्यापन के तरीक़े का चित्रण भी रोचक है। तिलडीहा गाँव में श्रीनाथ झा के अध्यापन का ब्योरा भी ऐसा ही है। आत्मकथाकार झा ने अपने पाठशाला के गुरुओं की अनुकम्पा और उदार-दृष्टि के अनुभवों की स्मृतियों के साथ छोटे-छोटे गाँवों की पाठशालाओं के विद्यामय जीवन के चित्ताकर्षक चित्र अंकित किये हैं। मुज़फ़्फ़रपुर और दरभंगा के शिक्षासंस्थानों में पण्डितों के समर्पित एकनिष्ठ विद्याव्यासंग का चित्रण भी उनका उतना ही रुचिकर है। आज़ादी के पहले तक पण्डितों का एक जागृत संसार भारत में मौजूद था, वह अब ओझल हो गया लगता है।

वस्तुत: उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में पाण्डित्य का अभूतपूर्व विकास रुका नहीं है। इन शताब्दियों में लगभग ऐसे सैकड़ों पण्डितों के नाम गिनाए जा सकते हैं, जिनका असाधारण ज्ञान और चिंतन कपिल, कणाद और गौतम के चिंतन के धरातलों का स्पर्श करता है। अपने अध्ययन, मनन, चिंतन और जीवन-व्यवहार में वे प्राचीन काल के ऋषियों जैसे ही लगते हैं। इन शताब्दियों में मधुसूदन ओझा वैदिक विज्ञान जैसे नये विषय की आधारशिला रखते हैं, और रामावतार शर्मा अपने *परमार्थदर्शनम्* में नये दर्शन की। तारानाथ तर्कवाचस्पति अकेले अपने बूते पर बड़े आकार में छपा 5500 पृष्ठों का छह खण्डों का विशाल *संस्कृतकोश* रच देते हैं। बीसवीं सदी के अवसान के वर्षों में बदरीनाथ शुक्ल न्याय-दर्शन पर अपने असाधारण अधिकार के साथ न्यायसम्मत मुक्ति में आनंदवाद तथा न्याय-दर्शनसम्मत देहात्मवाद की नयी अवधारणाएँ खड़ी करके आधुनिक दार्शनिकों को भी चकित कर देते हैं।

बच्चा झा (1860-1921), मधुसूदन ओझा, तारानाथ तर्कवाचस्पति, राजाराम शास्त्री (1805 लगभग.-1875), गोपीनाथ कविराज (1887-1976), बापू देव शास्त्री (1829-1890) शिवकुमार शास्त्री (1857-1918), गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ (-1979), बाल शास्त्री (1839-1882), गंगाधर शास्त्री (1853-1913), सुधाकर द्विवेदी (1860-1910), पंचानन तर्करत्न (1866-1940), श्रीपाद दामोदर सातवलेकर (1867-1968), दामोदरलाल गोस्वामी (1875-1948), लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़ (1874-1930), रामावतार शर्मा (1877-1928), पाण्डुरंग वामन काणे (1880-1972), क्षेत्रेश चंद्र चट्टोपाध्याय (1896-1974), रघुनाथ शर्मा (1899-1989), लक्ष्मण शास्त्री जोशी (1901-1994) आदि पण्डित परम्परा के यशस्वी नाम हैं।

व्याकरण में रामप्रसाद त्रिपाठी और उनके शिष्य रामयत्न शुक्ल, न्याय-दर्शन में बदरी नाथ शुक्ल और नयी पीढ़ी में राजाराम शुक्ल, मीमांसा में चिन्न स्वामी, पट्टाभिराम शास्त्री, मणि द्रविड़— ये सारे पण्डित संस्कृत शास्त्रपरम्परा की गत्यात्मकता और नवीन उद्भावनाओं की क्षमता को चरितार्थ करते रहे हैं।

रेवाप्रसाद द्विवेदी साहित्यशास्त्रीय चिंतन में अनोखे उपक्रमों के उदाहरण हैं। इनके अलावा और भी बड़ी संख्या उन पण्डितों की है, जिन्होंने संस्कृत में नये शास्त्र या टीकाएँ भले ही न लिखीं हों, पर उनके शास्त्रार्थों की धूम रही और उनकी शिष्य परम्परा उनके मौलिक व्याख्यान, उद्भावनाओं और अगाध शास्त्र ज्ञान के प्रवाह का हिस्सा बन कर धन्य हुई। काशी के पण्डितों में राजाराम शास्त्री, तात्या शास्त्री, (1845-1919), कैलास चंद्र शिरोमणि (1830-), दामोदर शास्त्री (1847-1909) या रामयश त्रिपाठी (महाशय जी), केदार नाथ सारस्वत, (1903-1959), केदारनाथ ओझा तो बंगाल के पण्डितों में बाणेश्वर विद्लंकार, चंद्रकांत तर्कालंकार, गौरमोहन विद्यालंकार, जगन्नाथ तर्कपंचानन, वामाचरण भट्टाचार्य, कालीपद तर्काचार्य (188,-1972) आदि ऐसे पण्डित हैं।

अवधेय है कि इनमें से एक दो को छोड़ कर सभी पण्डितों के नाम के पहले अनिवार्यत: महामहोपाध्याय लगाया जाता है, जो राजाओं द्वारा या बाद में महारानी विक्टोरिया या वाइसराय द्वारा पाण्डित्य के सम्मान में प्रदत्त सर्वोच्च अलंकरण था।

काशी के अलावा मिथिला या दरभंगा, कलकत्ता, पुरी, पूना, श्रीरंगम्, नवद्वीप, भाटपाड़ा, नादिया, कोतलीपाड़ा, फ़रीदपुर, कमालपुर, भाखरड, शांतिपुर, विक्रमपुर, त्रावणकोर आदि पण्डितों के केंद्र रहे हैं।

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में सहस्रों की संख्या में ऐसे पण्डित हुए हैं, जो शास्त्रों की जटिल गुत्थियों को खोलने में माहिर थे, जिन्होंने अपने जैसे शिष्यों की पौध रोपी, अंकुरित की और संवर्धित की, और नयी टीकाओं या मौलिक ग्रंथों का भी प्रणयन किया। समय की रफ़्तार के साथ ये पण्डित एक स्तर पर अपनी सनातनता में भी जीते रहे, और समय की रफ़्तार के साथ आगे भी बढ़ते गये। इनमें अनेक लोगों ने युगांतरकारी काम किये। केरल के टी. गणपति शास्त्री ने भास के नाटकों की खोज की, उनका सम्पादन और प्रकाशन कराया। भास के नाटकों का छप जाना संस्कृत भाषा और उसके साहित्य के इतिहास में पिछले डेढ़ हज़ार वर्षों की सबसे महत्त्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। इन्हीं टी. गणपति शास्त्री ने कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* की पूरी परम्परा का पुनरुद्धार किया, उस पर *श्रीमूलम्* नाम से अपनी गम्भीर विवेचनात्मक टीका लिखी और उस ग्रंथ का सम्पादन और प्रकाशन किया। केरल के ही रामकृष्ण कवि ने भरतमुनि के *नाट्यशास्त्र* की पाण्डुलिपियाँ सँजोईं, उनका सम्पादन और प्रकाशन किया। भास के नाटकों तथा भरत के *नाट्यशास्त्र* की पाण्डुलिपियों का प्रकाशन ऐसी घटनाएँ हैं, जिन्होंने विश्व के रंगमंच और कलाजगत् पर अपना प्रभाव छोड़ा है। सुधाकर द्विवेदी ने चलनकलनगणित (डिफ़रेंशियल केलकुलस) पर पुस्तक लिखी थी, बापूदेव शास्त्री ने त्रिकोणमिति (ट्रिग्नोमेट्री) पर। इन दोनों पण्डितों का प्राचीन और आधुनिक गणित पर अधिकार देख कर उस समय के गणितज्ञ भी चकित हो जाते थे। काशी के पण्डित युरोप के ज्ञान-विज्ञान से अपने को परिचित करते हुए संस्कृत की शास्त्रपरम्परा में उसे समायोजित कर रहे थे।

इन पण्डितों की कई श्रेणियाँ हैं। जैसे—

(1) पारम्परिक पण्डित— ऊपर गिनाए गये अधिकांश नाम इसी कोटि में आते हैं। काशी, उज्जैन, पूना ऐसे पण्डितों के केंद्र रहे हैं। काशीवासी अधिकांश दिग्गज पण्डित मूलतः काशी के नहीं रहे, बंगाल, सुदूर दक्षिण, मध्यक्षेत्र या पश्चिमी प्रांतों से अध्ययन-अध्यापन और काशीवास के लिए पण्डितों की पीढ़ियाँ यहाँ आ कर बसती रहीं।

गंगाधर शास्त्री

पण्डित और विद्वान् (स्कॉलर) में मोटा अंतर है। हर स्कॉलर पण्डित नहीं होता। पण्डित अपने पढ़े और गुने को जीवन में ढालता भी है। वेदांत, सांख्य, बौद्धों और जैनों के शास्त्र हों या चार्वाक-दर्शन— इनके सिद्धांतों के साथ इनके आचार और जीवनचर्याएँ जुड़ी हुई हैं। पण्डित का शास्त्रज्ञान उसके आचार और व्यवहार से समरस होता है।

(2) आधुनिक पण्डित— इनमें वे पण्डित आते हैं, जिन्होंने पारम्परिक गुरुकुलों में शिक्षा पाई, पर वे ज्ञान-विज्ञान के आधुनिक अनुशासनों से भी परिचित हुए और अनुसंधान की अद्यतन प्रणाली से इन्होंने अपने को संस्कारित किया। इनमें से अनेक काशी के बाहर रहे, या काशी से प्रव्रजित हुए, अथवा अन्यत्र अध्ययन, अध्यापन कर के काशी में आ बसे। गंगानाथ झा (1872-1941), क्षेत्रेश चंद्र चट्टोपाध्याय, विधुशेखर शास्त्री, (1878), क्षितीश मोहन सेन (1880-1960), हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र आदि ऐसे ही पण्डित हैं। इन्होंने अपने-अपने क्षेत्रों में नयी ज़मीन तलाशी और प्रवर्तक कार्य किया। इनमें से विधुशेखर शास्त्री, क्षितीश मोहन सेन तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी को शांतिनिकेतन में रवींद्रनाथ ठाकुर का सान्निध्य मिला। शास्त्री और सेन तो सिल्वाँ लेव्ही या विण्टरनित्ज़ जैसे प्राच्यविद्या विशारदों के सम्पर्क में भी आये, जो रवींद्रनाथ के बुलावे पर शांतिनिकेतन आते रहते थे। गोपीनाथ कविराज, हरप्रसाद शास्त्री, गंगानाथ झा, पाण्डुरंग वामन काणे, लक्ष्मण शास्त्री जोशी, गोविंद चंद्र पाण्डेय तथा रेवाप्रसाद द्विवेदी ने असाधारण मेधा द्वारा ज्ञान के नये वातायन खोले। ये सभी पण्डित की अवधारणा को ज़्यादा विश्वसनीय और प्रामाणिक रूप में सत्यापित करते हैं।

(3) अनेक पण्डित किसी धार्मिक या दार्शनिक सम्प्रदाय से जुड़ने के कारण धर्मगुरु बन गये। इनकी संख्या देश में कई हज़ार में है। उनमें से अधिकांश संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित हैं, और शास्त्रों पर असाधारण अधिकार रखते हैं। आद्य शंकराचार्य द्वारा स्थापित चार पीठ से लगा कर देश में एक हज़ार ऐसे मठ या पीठ हैं, जिनमें संस्कृत के सम्प्रदाय विशेष से जुड़े ग्रंथों का गहरा अध्ययन होता है। इनमें से कुछ ऐसे अवश्य हैं जो अपने ज्ञान और चिंतन द्वारा समाज को एक दिशा दिखा सकें। स्वामीनारायण सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी नारायण ऐसे ही पण्डित थे। चित्ताम्बि स्वामी ने *वेदाधिकारनिरूपणम* नामक शास्त्रग्रंथ लिखा, जिसमें उन्होंने असवर्णों को वेद पढ़ने के अधिकार की वकालत की। नारायण गुरु (1857–1928) एक अद्वैत-वेदांती आचार्य हैं। वे केरल के दलित और अंत्यज परिवार में जन्मे। उन्होंने संस्कृत और शास्त्रों का अध्ययन किया। संस्कृत और मलयालम में अनेक ग्रंथ लिखे। *नारायणस्मृतिः* नाम से उन्होंने नया धर्मशास्त्र रचा, जिसमें अद्वैतदर्शन के साथ आज के समाजसुधारक की आधुनिक दृष्टि का भी उन्मेष हुआ। हरियाणा के जाट परिवार में जन्मे स्वामी निश्चल दास अद्वैत वेदांत के स्मरणीय व्याख्याकार हैं, गोस्वामी श्याममनोहर एक चिंतक होने के साथ वल्लभ-दर्शन के लब्धप्रतिष्ठ व्याख्याकार भी हैं। इन दोनों का हिंदी में महत्त्वपूर्ण वैचारिक लेखन है, जिस पर कम ध्यान दिया गया है। स्वामी हरिहरानंद (करपात्रीजी), स्वामी अखिलानंद आदि अपने गहरे अध्ययन, चिंतन और मनन के कारण पण्डित समाज के लिए ही अनुकरणीय उदाहरण बने रहे। बंगलुरु विश्वविद्यालय में संस्कृत के आचार्य और तिरुपति के विद्यापीठ में कुलपति रह चुके प्रह्लादाचार्य एक अच्छे नैयायिक होने के साथ माध्ववेदांत पर असाधारण अधिकर के लिए जाने जाते हैं। अब वे एक माध्वपीठ में गद्दी पर हैं। इनमें से स्वामी निश्चलदास, गोस्वामी श्याम मनोहर आदि अनेक पण्डित ऐसे हैं, जिनकी विश्व के आधुनिक दार्शनिकों में गणना की जानी चाहिए। दुर्भाग्य से इनका इस दृष्टि से मूल्यांकन नहीं हुआ है।

(4) पण्डितों में एक श्रेणी पेशेवर या ग़ैर-पेशेवर प्रवचनकारों की है। इन्होंने अपनी वक्तृत्वकला और कई बार उससे ज़्यादा गायन और कीर्तन कराने की कला का लोकप्रियता हासिल करने के लिए खूब उपयोग किया। ये प्रायः अपने पाण्डित्य को ताक पर रख कर भीड़ को एक उन्मादग्रस्त आनंद से सराबोर भी करते रहते हैं। इनमें तेज़ी से अनपढ़ और चालू लोगों की जमात भी शामिल होती जा रही है। पर यह भी नहीं भूला जाना चाहिए कि इन्हीं पण्डित-प्रवचनकारों में पण्डिता रमाबाई के पिता अनंत शास्त्री डोंगरे भी एक थे।

पण्डितों की इस श्रेणी के अंतर्गत ग़ैर-पेशेवर प्रवचनकारों का भारत के वैचारिक विश्व के निर्माण में साधारण योगदान रहा है, जिसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया।

(5) पाँचवीं श्रेणी प्रोफ़ेसर पण्डितों की है। मद्रास के व्ही. राघवन्, बंगलुरु के के. टी, पाण्डुरंगी और प्रह्लादाचार्य, कलकत्ता के गौरीनाथ शास्त्री आदि विश्वविद्यालयों में बड़े पीठों पर पहुँचे।

(6) छठी श्रेणी उन पण्डितों की है, जो अब विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत हैं। विज्ञान और तकनीकी के संस्थानों में सेवा करते हुए भी इन्होंने अपनी वेषभूषा, रहन-सहन और आचार-विचार नहीं बदले, न अपने शास्त्राभ्यास को त्यागा, बल्कि उसे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से जोड़ने का काम किया। आईआईटी, मुम्बई में गणित के प्रोफ़ेसर राम सुब्रह्मण्यम्, सी-डेक में कार्यरत रहे पी. रामानुजन् आदि इसके उदाहरण हैं।

यदि समाजशास्त्र के किसी शोधार्थी से सर्वेक्षण कराया जाए, तो देश और विदेशों में ऐसे अनेक पण्डित-वैज्ञानिक या वैज्ञानिक-पण्डित मिल जाएँगे, जो अपनी रुचि से संस्कृत के पारम्परिक पाण्डित्य में संचरण करते हैं और पेशे से आधुनिक विज्ञान के विषय में अध्यापन और अनुसंधान करते हैं। आईआईटी, दिल्ली में गणित के प्राध्यापक पद से सेवानिवृत्त हुए वागीश शुक्ल पुरानी पीढ़ी में ऐसा एक नाम है। नयी पीढ़ी में ऐसे लोग और अधिक उभर रहे हैं। कुछ लोग ऐसे भी मिल जाएँगे, तो विदेशों में तकनीकी से

जुड़ी अच्छी नौकरियाँ छोड़ कर भारत में आ कर संस्कृत शास्त्रों के अध्ययन या अनुसंधान में लगे हुए हैं। यह पण्डित परम्परा का एक आधुनिक विस्तार है और उसकी सम्भावना भी।

(7) एक अन्य श्रेणी के पण्डित वे हैं, जो संस्कृत की पारम्परिक शिक्षा पा कर अन्य क्षेत्रों में इतने प्रसिद्ध हुए कि उनकी पण्डित की छवि कहीं नेपथ्य में चली गयी। सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय, सिद्धेश्वर वर्मा तथा बाबूराम सक्सेना ऐसे ही नाम है। ये तीनों भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में किये गये अपने महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए अधिक जाने जाते हैं, जो संस्कृत पाण्डित्य के अभाव में असम्भव था। ईश्वरचंद्र विद्यासागर, स्वामी दयानंद तथा बाल गंगाधर तिलक ने भी संस्कृत के शास्त्रों का गुरुमुख से अध्ययन किया, जीवनपर्यंत वे इनका अध्ययन व इन पर मनन, प्रवचन भी करते रहे, पर इन तीनों की पहचान अब पण्डित की अपेक्षा अन्य रूप में अधिक होती है। पण्डित विचारों का प्रवर्तन करते रहे हैं, जिनसे कर्म की नयी सम्भावनाओं और अभियानों का प्रवर्तन हो सके। वे अपने विचारों को कर्म में रूपांतरित करने के लिए अभियानों का नेतृत्व भी करने लगते हैं। तब वे पण्डित से समाजसुधारक, धर्मगुरु या राजनेता के रूप में ज्यादा पहचाने जाने लगते हैं। ये तीनों इस रूपांतर के उदाहरण हैं। चंद्रधर शर्मा और अम्बिकादत्त शर्मा ने पारम्परिक रीति से संस्कृतशास्त्रों का अध्ययन किया, पर ये दोनों दर्शनशास्त्र में अपने अवदान के लिए जाने जाते हैं।

ये कोटियाँ 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'— इस न्याय से प्रस्तावित की गयी हैं। अनेक पण्डित ऐसे हैं, जिन्हें किसी एक कोटि में रखना सम्भव नहीं है, या उन्हें सभी कोटियों में रखा जा सकता है। गोपीनाथ कविराज इसके उदाहरण हैं।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में पण्डित समाज की मुठभेड़ एक ऐसी समुन्नत संस्कृति और विचार-परम्परा से हुई, जो युरोप से निकली और प्रबल आक्रामक, अवस्कंदकारी और विध्वंसात्मक भाव के साथ भारत में प्रविष्ट हुई। शक, हूण, तुर्क व मुसलमान आक्रांता यहाँ बराबर आते रहे, पर विचार और सभ्यता की प्रखरता का वह प्रचण्ड रूप उनमें न था, जो युरोप के आक्रांता ले कर आये। पण्डित के आधुनिक विश्व से संवाद उसकी सम्भावनाओं, सफलताओं और विफलताओं की वास्तविक कथा यहीं से आरम्भ होती है। यह एक विराट् महागाथा है, इसके कुछ ही पक्ष यहाँ रखे जा सकते हैं।

कविपण्डित और पण्डितकवि

आरम्भ में कहा गया है कि जो कवि है, वह पण्डित है और जो पण्डित है वह कवि है। ऐसे में कविपण्डित (कवियों में पण्डित) या पण्डितकवि (पण्डितों में कवि) की कोटि सिद्धांततः नहीं बनती। पर कवि और पण्डित से व्यवहार में जो अभिप्राय लिया जाता है, उसकी दृष्टि से ये कोटियाँ बनती हैं। संस्कृत साहित्य की परम्परा में यह माना गया कि अच्छा कवि वही है, जो पण्डित भी हो। इस संबंध में ये उक्तियाँ प्रचलित रही हैं—

विद्वत्कवयः कवयः केवलकवयस्तु केवलं कपयः।

(विद्वान् होने के साथ जो कवि हों, वे ही वास्तविक कवि हैं, केवल कवि तो केवल कपि ही हैं।)

तर्केषु कर्कशधियो वयमेव नान्ये, काव्येषु कोमलधियो वयमेव नान्ये।

(तर्क में कर्कश बुद्ध वाले भी हम ही हैं, कोई और नहीं, और काव्य में कोमल बुद्धि वाले भी हम ही हैं, कोई और नहीं।)

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रंथिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शैया वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥

(चाहे सुकुमार विषय वस्तु वाला साहित्य हो, या दृढ़ न्यायशास्त्र की पकड़ के कारण गुत्थियों

से भरे तर्क हों, मेरी वाणी दोनों में बराबर लीला करती है। चाहे कोमल गद्दे वाली सेज हो, या फूस की बिछात वाली ख़ाली धरती, स्त्रियों का पति यदि मनचाहा है, तो उनके लिए रति का आनंद दोनों में बराबर होगा।)

इस श्लोक के प्रणेता श्रीहर्ष कहे गये हैं, जो महाकवि और महापण्डित दोनों के रूप में प्रख्यात हैं।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के संस्कृत के समाज से सैकड़ों कविपण्डितों या पण्डितकवियों के उदाहरण दिये जा सकते हैं। इनमें कुछ मूलत: कवि थे और पाण्डित्य उनके कवित्व के साथ संचरण करता रहा है। कुछ मूलत: पण्डित हैं और उनके भीतर का कवि अकसर या यदा-कदा जाग पड़ता है। अनेक पण्डित ऐसे हैं जिनके विषय में कहना कठिन है कि वे पण्डित बड़े हैं या कवि। वस्तुत: उनका पण्डित और उनका कवि दोनों कहीं गलबहियाँ करते चलते हैं, कहीं दोनों एकाकार हो जाते हैं। यहाँ स्थालीपुलाकन्याय (बटलोई में से दो-तीन चावल के दाने निकाल कर पूरे चावल के पके या पके न होने की पहचान का दृष्टांत) से कतिपय पण्डितकवियों या कविपण्डितों की चर्चा की जा रही है।

कूर्मांचल के कवि लोकरत्न पंत 'गुमानी' (जन्म 1891) की संस्कृत में चौबीस रचनाओं के अतिरिक्त दो कृतियाँ मिश्रित भाषा में छह हिंदी में तथा चौदह कुमाऊँनी में है। इनका जन्म काशीपुर, नैनीताल में 1891 में हुआ।[3] इनके काव्यों में *रामनामपञ्चशिका, राममहिमावर्णन, गङ्गाशतक, जगन्नाथाष्टक, कृष्णाष्टक, रामसहस्रगणदण्डक, चित्रपद्यावली, रामाष्टक, कालिकाष्टक, नीतिशतक, भक्तिविज्ञप्ति, द्यूतवर्णन, पञ्चपञ्चाशिका, दुर्जनदूषण, हितोपदेशशतक, अङ्ग्रेजराज्यवर्णनम्, तमाखुपत्रमहिमा, गञ्जीफाक्रीडापद्धति:, चतु:सारिकावर्णनम्, लाटद्वयप्रकरणम्* तथा *गद्यराज:* उल्लेखनीय हैं।

गुमानी कवि संस्कृत में वैज्ञानिक साहित्य ला रहे हैं। वे शतरंज, गञ्जीफ़ा (ताश) और चौसर खेलने की विधियों और इन खेलों की बारीकियाँ तथा इनसे जुड़ी तकनीकी शब्दावली को ले कर संस्कृत में लिख रहे हैं। वे अंग्रेज़ी शासन की पद्धति तथा अंग्रेज़ी प्रशासन और अदालतों की शब्दावली संस्कृतज्ञों को सिखाने के लिए संस्कृतमाध्यम की दिग्दर्शिका तैयार कर रहे हैं। लोकोक्तियों तथा कुमाऊँनी भाषा के आभाणकों और मुहावरों के संस्कृत में इनके प्रयोग अत्यंत रोचक तथा इनकी विलक्षण प्रतिभा के परिचायक हैं। *अङ्ग्रेजराज्यवर्णन* काव्य इन्होंने संस्कृत और हिंदी दोनों भाषाओं में पृथक् पृथक् लिखा, वह इनकी स्पष्टवादिता का अनोखा उदाहरण है। हास्य, व्यंग्य और विनोद की छटा बिखेरने में गुमानी कवि बेजोड़ हैं।[4]

शतरंज की विधि समझाते हुए साह-मात (शह-मात), चौमोहरी, क़िस्त आदि असंस्कृत शब्दों का प्रयोग गुमानी कवि ने किया है। *चतुसारिकावर्णनम्* में चौसर के खेल का वर्णन है। *गञ्जीफाखेलनम्* में भी प्रामाणिकता की दृष्टि से उस समय के प्रचलित शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है।

अङ्ग्रेजराज्यवर्णनम् में अंग्रेज़ी राज्य की कवि गुमानी ने समीक्षा की है। उन्होंने निर्भीकता के साथ अंग्रेज़ के गुण व दोष गिनाए हैं।

शूरेऽनुरक्तप्रकृति: कृतज्ञ:
सम्मानयेच्चेद् गुणिनं फिरङ्गी
स्यात् किञ्चिदूनं न तदेति मन्ये
श्रीरामराज्यादिदमीयराज्यम्॥

(शूर जनों में स्वभाव से अनुराग रखने वाला कृतज्ञ फ़िरंगी यदि गुणीजनों का सम्मान करने लग जाए, तो मैं समझता हूँ कि उसका राज्य रामराज्य से घट कर नहीं होगा।)

---

[3] किरण टण्डन (2001) : 15-16.

[4] वही : 38.

न वेदकुशलं न च स्मृतिविदं न तंत्रोद्धुरम्
न शास्त्रविहितश्रमं न समधीतसाहित्यिकम्।
लिखन् पठति यावनीमपि य आङ्गरेजीं लिपिं
तमेव बत मन्यते बुधजनं फिरङ्गीजनः॥

(फ़िरंगी न तो वेद में कुशल पण्डित को, न स्मृतियों के जानकार को, न तंत्रों में अधिकार रखने वाले को ही, न शास्त्र में निष्णात व्यक्ति को, न साहित्य को अधीती को ही कुछ समझता है। वह तो जो अंग्रेज़ी या यावनी (फ़ारसी) लिपि लिख ले व पढ़ ले उसी को ज्ञानी मानता है।)

दधत् पृथुलमायसं दहनशस्त्रमंसे भटो
वहन्नुरसि पैत्तिलीं किमथ पट्टिकां जाङ्घिकः।
हलं किमथवा करे पटुकृषीवलो धारयन्
वसेद् भुवि फिरङ्गिणामितरथा सुदूरं व्रजेत्॥

गुमानीरचनावली, पृ. 324

(फ़िरंगी के राज्य में या तो कंधे पर बड़ी-सी बंदूक़ रखने वाला और छाती पर पीतल की पट्टी लगाने वाला जांघिक या हरकारा रहे अथवा कंधे पर हल धारण करने वाला कुशल किसान रहे। अन्य लोग दूर चले जाएँ।)

वस्तुतः अपनी स्पष्टवादिता के साथ यथार्थ का उद्‌घाटन करते हुए गुमानी कवि ने फ़िरंगी या अंग्रेज़ पर जैसी फ़ब्तियाँ कसी हैं, वह संस्कृत साहित्य में अपूर्व ही है। दो टूक बात कहने वाला ऐसा काव्य गुमानी ही लिख सकते थे—

न वेदपथवर्तिता न सदसद्विवेको नृणां
न वर्णपृथगात्मता भवति नाश्रमाणां स्थितिः
न मूर्खजनगर्हणा न गुणशालिलोकार्हणा
फिरङ्गिणि महीपतौ विजयते कृतार्थः कलिः॥

(लोगों में न तो वेदमार्ग का अनुसरण रहा, न सद्, असद् का विवेक रहा। पृथक् पृथक् वर्ण नहीं रह गये, आश्रमों में मर्यादाएँ टूट गयीं। मूर्खों की निंदा अब नहीं होती, न गुणियों का आदर होता है। फ़िरंगी राजा क्या बना कि कलियुग कृतार्थ हो कर विजयी हो गया है।)

कलिः किल फिरङ्गिणा स कलिना फिरङ्गी जनो
नभा इव तडित्वता स नभसा तडिद्वानिव
विभाति सुतरामहो कथयते गुमानी कवि-
र्मिथः फलविधायको भवतु योग्ययोः सङ्गमः॥

(आकाश से बिजली और बिजली से आकाश की तरह कलियुग फ़िरंगी से और फ़िरंगी कलियुग से सुशोभित हो रहा है। गुमानी कवि कहते हैं कि एक-दूसरे के योग्य इन दोनों का यह संगम ऐसे ही फलेगा।)

यदस्यति महीभृतां युधि हठात् फिरङ्गी बलम्
यदुज्झति सदागमं विरहितात्मवृद्धिर्द्विजः
यदञ्चति कुलाङ्गना रहसि पुंश्चलीनां मतं
ध्रुवं स महिमा कलेः क्षितितले जरीजम्भते॥

(युद्ध में फ़िरंगी राजाओं के बल को बरबस कुचलता जा रहा हैं, द्विज अपनी वृत्ति से रहित हो कर सच्चे आगम को त्याग रहे हैं, कुलांगनाएँ एकांत में पुंश्चलियों के मत पर चल रही हैं— यह सब इस महीतल पर कलि की महिमा मुँह बा रही है।)

ज्ञानभैषज्यमञ्जरी में गुमानी कवि ने वेदांत और आयुर्वेद— इन दो शास्त्रों का कविता में संगम रच दिया है।

राजाङ्गरेजस्य राज्यवर्णनम् काव्य गुमानी कवि ने इस कविता के पहले लिखा होगा। इसमें सात श्लोकों में हैं अंग्रेज़ों के समय के बंदोबस्त और शासकीय व्यवस्थाओं की सराहना की है। सम्भवतः गुमानी कवि अंग्रेज़ी राज्य के इतिहास पर बड़ा प्रबंध लिखना चाहते थे। इसी क्रम में 25 पद्यों में

लाटद्वयप्रकरणम् इतिहास व राजनीति के साथ भाषा-विज्ञान का अनोखा दस्तावेज़ है। इसमें उस समय के प्रशासन में प्रचलित अंग्रेज़ी शब्दों को संस्कृत के माध्यम से समझाया गया है।

मार्च पास्ट का जैसा वर्णन इस काव्य में सूक्ष्म पर्यवेक्षण और कौतुकप्रियता के साथ गुमानी ने किया है, वह उनकी वर्णन कला में दक्षता का परिचायक है। सैनिकों के पैर पटकने से होने वाले शब्दों का इसमें कवि ने बिम्ब खड़ा कर दिया है— कभी वह्नियंत्र नामक शस्त्र (बंदूक़) को हाथ से फटाक् से ऊपर उठाते हैं, फिर तत्काल दूसरे हाथ से उसे कस कर लपेट कर एक क्षण में नीचे लाते हैं। उस समय के न्यायालय या कचहरियों का वातावरण कवि ने वहाँ बोली जाने वाली भाषा के शब्दों में साकार कर दिया है।

वाक्पटुता, विदग्धता, विविधभाषाभिज्ञता तथा लोकसंस्कृतियों में अंत:संचरण द्वारा कविता की जो समृद्धि गुमानी रचते हैं, वह विद्यापति, रहीम आदि विरले कवियों में ही देखने को मिलती है। ग्रियर्सन ने उनके बहुभाषिक काव्यों की प्रशंसा की है।[5] एक ही पद्य में चार-चार भाषाओं का एक साथ सधा हुआ प्रयोग गुमानी करते हैं— संस्कृत के साथ नेपाली, कुमाऊँनी तथा हिंदी।

गलगली रामाचार्य पण्डित होने के साथ सिद्धहस्त कवि हैं। 1920 के आसपास उन्होंने स्वराज्यरत्नाकर के अंतर्गत सत्याग्रह, स्वदेशी और बहिष्कार के आंदोलन को ले कर पाँच बहुत ओजस्वी लहरीकाव्य संस्कृत में रचे। इनमें से *गाँधीटोपीलहरी* को विनोबा के मुख से सुन कर गाँधीजी भी प्रसन्न हुए थे। गंगाधर शास्त्री का *अविविलासिसंलाप:* संस्कृत साहित्य की पूरी परम्परा में अपने ढंग का विलक्षण काव्य है। अन्य पण्डित कवियों में गोविंद चंद्र पाण्डेय, बच्चूलाल अवस्थी, रतिनाथ झा, बटुकनाथ शास्त्री ख़िस्ते रहे।

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री (जन्म 1889) का कार्य संस्कृतपाण्डित्य और कविता दोनों क्षेत्रों में युगांतरकारी है। भट्टजी ने संस्कृत मुक्तकों में नये विषयों तथा नयी विधाओं का समारम्भ किया। वस्तुत: भट्टमथुरानाथ शास्त्री संस्कृत के युगप्रवर्तक साहित्यकार हैं। संस्कृत रचना में नयी प्रवृत्तियों के आधान, नयी विधाओं के सूत्रपात तथा नयी शैलियों के प्रयोगों की दृष्टि से उनका कृतित्व बहुआयामी और सर्वतमुखतया सम्पन्न है। संस्कृत में रेडियो रूपक, आधुनिक वातावरण तथा नये सामाजिक संदर्भों का चित्रण करने वाली कहानियाँ, यात्रावृत्त, ललित निबंध जैसी विधाओं की अवतारणा शास्त्रीजी ने ही की। दोहा, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय कवित्त जैसे ब्रजभाषा के छंदों को पहली बार संस्कृत काव्य में इन्होंने उतारा। संस्कृत ग़ज़ल के भी प्रवर्तक शास्त्रीजी ही कहे गये हैं। ग़ज़ल के विधान तथा लोकभाषा के छंदों पर उनका असाधारण अधिकार है। उनके ललित निबंधों में लेखनी का चुलबुलापन चमत्कारी है। कहानियों में व्यंग्य, विडम्बना, सामाजिक वैषम्य की अभिव्यक्ति भी प्रभावशाली है भट्ट मथुरानाथशास्त्री ने संस्कृत कविता में ब्रजभाषा की मिठास और कोमलता का नवावतरण किया। अनुप्रासों की झंकार उनके कवित्त और छप्पयों में अनुगुंजित है। कल्पनाशीलता के साथ उन्होंने अलंकारों का निर्वाह भी किया है। पर समकालीन समाज भी उनके पारम्परिक छंदों में चित्रित है। आधुनिक स्थितियों के चित्रण में व्यंग्य और उपहास के भाव को उन्होंने अभिव्यक्ति दी है। इतनी ही प्रखरता भट्टजी के पाण्डित्य और समीक्षात्मक लेखन में भी है। पाण्डित्य के क्षेत्र में भी काव्यमाला सीरीज़ तथा *संस्कृतरत्नाकर:* मासिक के सम्पादन द्वारा उन्होंने इसी तरह प्रवर्तक कार्य किये।

रामावतार शर्मा की एक पण्डित-दार्शनिक के रूप में चर्चा इस लेख में अन्यत्र की गयी है। शर्माजी एक उद्‌भट कवि भी हैं। पंद्रह वर्ष की आयु में उन्होंने जिस वर्ष काव्यतीर्थ की परीक्षा उत्तीर्ण की, उसी वर्ष *धीरनैषधम्* नाम का संस्कृत में एक बड़ा नाटक लिख डाला। उनका *मुद्गरदूतम्* एक अनोखा काव्य है। *मुद्गरदूतम्* में छंद तथा कथा रूढ़ि तो *मेघदूतम्* की अपनाई गयी, पर सारा भावबोध

---

[5] देखें, राधावल्लभ त्रिपाठी (2018). खण्ड 4 में मुक्तक काव्यविषयक अध्याय.

आमूलचूल परिवर्तित कर दिया गया। *मुद्गरदूतम्* प्राचीन काव्य-परम्परा से जुड़ कर भी आज की संस्कृत कविता के लिए एक नया मानक प्रस्तुत करता है। वह मेघदूत के उदात्त भावबोध के संसार को छोड़कर विडम्बना और विरूपीकरण की अनोखी दुनिया में ले जा कर नया काव्यास्वाद रचता है। मूर्खदेव चपल विधवाओं के स्नान से पावन जल वाले कामगिरि के आश्रमों में निवास करता है। वह गाँव की तरुण विधवाओं के साथ तरह-तरह की लीलाएँ रचाता है। इसकी लीलाओं का बीभत्स चित्रण अत्यंत उत्तेजक है। मूर्खदेव की प्रेमिका का अंत भी जुगुप्सित स्थिति में होता है। फिर विरहविधुर खिन्न मूर्खदेव की भेंट मुद्गरानंददेव से होती है। फिर तो मूर्खदेव और मुद्गरानंद की जोड़ी बन जाती है। और वे दोनों अपनी लीलाओं के विस्तार के लिए निकल पड़ते हैं। इस यात्रा में विविध देशों का वर्णन है। ये दोनों अनृता (एण्टार्कटिका), स्पाराङ्गाः (फ्रांस), सुबीजकुल्या (स्वेज केनाल), अजपुत्राः (इजिप्ट), सुफेनाः (स्पेन), मक्षिका (मैक्सिको), मिश्रसिप्रा (मिसिसिपी) की यात्राएँ करते हैं। आधुनिक काल की सारी बीभत्स स्थितियाँ शर्माजी ने अघोरी की भूमि पर रह कर यहाँ उघाड़ दी हैं। हिंदी में इस तरह का लेखन पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने किया।

गिरधर शर्मा चतुर्वेदी

अनेक पण्डित किसी धार्मिक या दार्शनिक सम्प्रदाय से जुड़ने के कारण धर्मगुरु बन गये। इनकी संख्या देश में कई हज़ार में है। उनमें से अधिकांश संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित हैं, और शास्त्रों पर असाधारण अधिकार रखते हैं। आद्य शंकराचार्य द्वारा स्थापित चार पीठ से लगा कर देश में एक हज़ार ऐसे मठ या पीठ हैं, जिनमें संस्कृत के सम्प्रदाय विशेष से जुड़े ग्रंथों का गहरा अध्ययन होता है।

पण्डिता क्षमाराव[6] (1890-1953) की साहित्य साधना ने संस्कृत साहित्य में नवोन्मेष के अनुद्घाटित द्वार खोले हैं। यह क्षमादेवी के नारीहृदय की संवेदना और अनुभूतिप्रवणता ही थी, जिसके कारण गीता की विधा को उन्होंने राष्ट्र के नवजागरण के शंखनाद से गुंजित करते हुए संस्कृत में नवयुग का नया काव्य रचा। आधुनिक जीवन और आधुनिक विधाओं से उनके सम्पर्क ने भी उनके रचना-संसार को उन्हीं के समय के अन्य संस्कृत कवियों से भिन्न आयाम दिये। संस्कृत में उन्होंने अनेक विधाओं में लेखनी चलाई तथा यात्रावृत्त और जीवनी जैसी विधाओं का संस्कृत में नया उपक्रम किया। उनकी स्वातंत्र्य आंदोलन तथा गाँधी चरित्र पर महाकाव्यत्रयी यथार्थबोध तथा भाषा की सहजता के कारण उल्लेखनीय है। यह महाकाव्यत्रयी संस्कृत साहित्य में अभिनव सोपानसरणि का निर्माण है। एक ओर तो कवि क्षमा ने गाँधीजी के युग और समाज तथा संघर्ष को प्रत्यक्ष देखा, जाना, समझा और परखा है। दूसरे स्वाधीनता संग्राम और गाँधीजी के चरित्र के प्रति गहरी आस्था से भी वे प्रेरित हैं। 135 शार्दूलविक्रीड़ित छंदों में निबद्ध इनका *मीरालहरी* काव्य नारी हृदय के समर्पण, आस्था, सामाजिक विसंगतियों के प्रति विरोध के भाव की अभिव्यक्ति करता है। यह मीरा का चरित भी है, और साधना की गाथा भी है। पण्डिता क्षमा ने वस्तुतः इतने तन्मय भाव से मीरा के अन्तरंग संसार का चित्रण किया है कि लगता है वे स्वयं मीरा से एकाकार हो कर लिख रही हैं, या मीरा के माध्यम से अपने आप का अन्वेषण कर रही हैं। वर्णन कला और पदार्थों को मूर्त करने में कवयित्री की सिद्धि यहाँ प्रकर्ष पर है। शास्त्र-परम्परा का ज्ञान भी कवि ने प्रकट किया है। उनका सारा साहित्य स्वतंत्रता और स्वराज के भाव की संवेदनशील अभिव्यक्ति है।

---

[6] क्षमा राव के जीवन तथा कृतित्व के विस्तृत विवरण के लिए देखें, राधावल्लभ त्रिपाठी (2013).

इस समय जो संस्कृत में अच्छी कविता लिख रहे हैं, उनमें प्राय: सभी अच्छे पण्डित भी हैं। गोविंद चंद्र पाण्डेय का संस्कृत में रचनात्मक लेखन परिमाण में अल्प है, पर उनका काव्य संकलन *भागीरथी* संस्कृत कविता में अछूती सम्भावनाओं के द्वार खोलता है। पण्डित कवियों की अगली पीढ़ी अभिराज राजेंद्र मिश्र आदि में तथा युवतर पीढ़ी बलराम शुक्ल, प्रवीण पण्ड्या आदि में उसी तरह सक्रिय है।[7]

रेवाप्रसाद द्विवेदी बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर रहे हैं। अनेक पाण्डित्यपूर्ण और मौलिक शास्त्रीय ग्रंथों के साथ-साथ संस्कृत में विविध विधाओं में इन्होंने विपुल रचनात्मक साहित्य रचा है, जिसमें तीन महाकाव्य, शेक्सपीयर के *रोमियो एण्ड जूलियट* पर आधारित नाटिका *यूथिका* (1976), नर्मदा नदी और उसके तटवर्ती अंचल का सुरम्य वर्णन करने वाला काव्य *रेवाभद्रपीठम्* तथा अनेक स्फुटकाव्य हैं। महाकाव्यों में *सीताचरितम्* या *उत्तरसीताचरितम्* रामायण की कथा की सीता के परिप्रेक्ष्य से समकालीन प्रस्तुति है। द्विवेदीजी के दूसरे *स्वातंत्र्यसम्भवम्* में आधुनिक भारत की कथा है। यह पहली बार 28 सर्गों में 1986 में छपा, दूसरा संस्करण 33 सर्गों का 2001 में सामने आया, तथा नवीन संस्करण जिसमें में 75 सर्ग तथा 6034 पद्य हैं, 2011 में प्रकाशित हुआ। इसमें झाँसी की रानी के संघर्ष से आरम्भ कर के अण्णा हज़ारे तक के आंदोलन का वृत्तांत महाकाव्यात्मक आख्यान का विषय बना है। आख्यान की काव्यात्मकता के साथ 1857 से 2011 तक के इतिहास को समेटने का ऐसा प्रयास भी भारतीय साहित्य में अनोखा ही है। अण्णा हज़ारे के कथनों में उनकी स्पष्टवादिता, सादगी तथा जीवनशैली तदनुरूप शैली में विशद रूप में प्रस्तुत की गयी है।

द्विवेदीजी का ललित साहित्य जितना विपुल है, उनके द्वारा प्रणीत सैद्धांतिक विमर्श के मौलिक ग्रंथ की संख्या भी उसकी तुलना में कम नहीं है। एक काव्यचिंतक तथा सौंदर्यशास्त्री के रूप में उन्होंने कविता में अलंकार के वेदांत को स्थापित करते हुए कविता के अहमागम का आविष्कार किया। अलंकार कविता का अहंभाव है, वह कविता का परमतत्त्व या ब्रह्म है। अलम्भाव या सौंदर्य की समग्रता ही अलंकार है, वह रचना के समग्र सौंदर्य तथा सौंदर्य की उपादान सामग्री में ऐसे ही रहता है जैसे एक चैतन्य ब्रह्म और जीव के रूप में अपने को विभाजित कर लेता है। द्विवेदीजी मानते हैं कि अलंकार का यदि पूर्णांगभाव हो तो रस भावादि का अपेक्षा नहीं रह जाती। वस्तुत: आचार्य द्विवेदी का अवदान का काव्यशास्त्र की समग्र परम्परा को पुनर्व्यवस्थापित करने की माँग करता है। द्विवेदीजी काव्य की शब्दरूपता तथा शब्दार्थोभयरूपता दोनों का खण्डन करते हैं। वे काव्य की ज्ञानरूपता स्थापित करते हुए कहते हैं कि अर्थ ही काव्य है। वे शब्दवृत्तियों के सारे सिद्धांत को निरस्त करते हैं, इनके स्थान पर द्विवेदीजी काव्यरचना प्रक्रिया की वाणी के चार सोपानों के आधार पर व्याख्या करते हैं। कविता के लिए शब्द की वैखरीरूपता आवश्यक नहीं है। अपनी अनेक स्थापनाओं में द्विवेदीजी अनजाने पश्चिम के संरचनावादी और उत्तर-आधुनिक विमर्श के निकट खड़े दिखते हैं। वे विश्वदेव के साक्षी राष्ट्रदेव के प्रबोध को कविता का एक प्रयोजन बताते हैं, अपने इस प्रयोजन को उन्होंने अपने तीनों महाकाव्यों और अनेक खण्डकाव्यों तथा मुक्तकाव्यों में चरितार्थ भी कर दिया है।

ग़ालिब ने कहा कि इल्म से शायरी नहीं आती। यह सच भी है। पर ग़ालिब को तुलसी की तरह *रामचरितमानस* तो लिखना नहीं था जिसमें नानापुराणनिगमागम आदि की रसोई परोस दी जाए। उन्हें तो गंगाधर शास्त्री की तरह *अलिविलासिसंलाप:* जैसा शास्त्रकाव्य या प्रसाद की तरह शैवदर्शन को कविता में ढाल कर *कामायनी* भी नहीं लिखना था। कविपण्डितों या पण्डितकवियों की रचनाधर्मिता में इल्म शायरी हो जाता है, शायरी इल्म हो जाती है। ज्ञान संवेदन और संवेदन ज्ञान बन जाता है, या

---

[7] अधिक विवरण के लिए देखें, राधावल्लभ त्रिपाठी (2018). खण्ड चार का पाँचवाँ अध्याय.

ज्ञानात्मक संवेदन तथा संवेदनात्मक ज्ञान गलबाहीं करते हैं। आचार्यों ने शास्त्रकाव्य और काव्शास्त्र ये दो काव्यभेद बताए हैं। शास्त्र कविता का समागम हो जाए तो शास्त्रकाव्य होता है। काव्य में शास्त्र का संगम बन जाए, तो काव्यशास्त्र। पण्डित दोनों तरह के काव्य लिखते रहे हैं। इस तथ्य का विलक्षण उदाहरण बच्चूलाल अवस्थी (1918–2005) हैं। उनका भारतीय दर्शन बृहत्कोश चालीस खण्डों में टंकित हुआ, जिसके सात खण्ड प्रकाशित हैं। वे संस्कृत के शास्त्रों की प्रखर तार्किकता के साथ मीमांसा करते हैं। पर अपनी सारी भावसमृद्धि के साथ उनकी संस्कृत कविता अपना एक शास्त्र भी रचती जाती है। उनकी कविता में शास्त्र ताका झाँकी करते हैं। पर कविता में वे आधुनिकता की समझ के साथ बहुत सुकुमार कल्पनाओं और महीन भावों का निराला संसार रचते हैं। वे संस्कृत ग़ज़ल के कुशल शिल्पकार हैं। संस्कृत कविता की अछूती सम्भावनाएँ उनकी रचना में खुलती हैं।

प्रोफ़ेसर-पण्डितों की श्रेणी में एक पण्डित ब्रह्मानंद शर्मा राजस्थान के राजकीय महाविद्यालय सेवा में रहे। उन्होंने संस्कृत के काव्यशास्त्र की मार्क्सवादी व्याख्या दी तथा रसानुभूति और सत्यानुभूति को पर्याय बताया। हर तरह की कविता सत्य का अनुभव देती है, पर पण्डित की लिखी कविता में सत्यकथन और सत्यानुभव जिस तरह किया और कराया जाता है, उसकी बात कुछ और ही होती है।

पण्डितों का यह कवि-कर्म सहज सर्जनात्मक प्रवृत्ति है, एक अनुष्ठानमूलक, प्रायोजित अवसरोचित क्रिया नहीं, जैसा शेल्डन पोलोक मानते हैं। साथ ही, इन पण्डित कवियों का अवदान देखते हुए शेल्डन पोलोक की यह मान्यता पुनर्विचार्य है कि पण्डितराज जगन्नाथ (सत्रहवीं शती) के बाद संस्कृत में श्रेष्ठ आचार्य और श्रेष्ठ कवि नहीं हुए। उनका यह मानना भी उचित नहीं कि पण्डितों का संबंध देशज परम्पराओं से— क्षेत्रीय भाषाओं और उनके साहित्य से— नहीं रहा। गुमानी कवि, अम्बिकादत्त व्यास आदि अनेक पण्डित कवि लोक-भाषाओं के भी सरस रचनाकार हैं। पोलोक का यह कथन अवश्य विचारणीय है कि संस्कृत के सार्वजनीन साहित्य के मुहावरे मर चुके थे क्योंकि क्षेत्रीयता के बढ़ते हुए संसार में वे अपना अर्थ खोते जा रहे थे। पर पण्डित स्वयं क्षेत्रीय संदर्भों से अपने को अद्यतन बना रहे थे।

बच्चा झा

शास्त्रार्थी पण्डित सारे देश में कोने-कोने में थे। बहस करना उनका व्यसन था। इसमें अपने गुरु को पराजित कर देना भी सहज रूप में लिया जाता था। रामावतार शर्मा ने युवावस्था में अपने दो उद्‌भट गुरुओं—गंगाधर शास्त्री और शिवकुमार शास्त्री— को पराजित किया था। वामाचरण भट्टाचार्य ने केवल 18 वर्ष की आयु में राममोहन सार्वभौम जैसे दिग्गज पण्डित को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था।

सच्चे पण्डितों के भीतर सरस्वती सतत प्रवहमान रहती है, वह वैखरी के रूप में व्यक्त हो या न हो। यहाँ तक कि अनेक पण्डित, जिन्हें कविरूप में कभी नहीं पहचाना गया, उनकी भी अत्यंत उज्ज्वल काव्य-रचनाएँ खोजने पर मिल सकती हैं। गोपीनाथ कविराज द्वारा अपने गुरु विशुद्धानंद सरस्वती के विषय में रचे पद्य इसके उदाहरण हैं।[8]
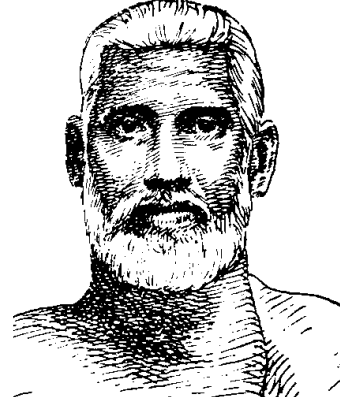
---

[8] ये पद्य *अर्चास्मृति* में उद्धृत हैं, तथा कविकल्पना के उत्कृष्ट उदाहरण हैं.

पण्डित और हमारा समाज

यहाँ एक सवाल किया जा सकता है। मान लिया कि पिछली दो सदियों में हज़ार-दो हज़ार अच्छे पण्डित हो भी गये, जिन्होंने चिंतन-मनन आदि किया हो और मौलिक ग्रंथ या अच्छी टीकाएँ लिख दी हों, और उतनी ही उत्तम कविताएँ भी रची हों, जिनके आधार पर यहाँ यह स्थापना दी गयी है कि वस्तुत: संस्कृत की चिंतन-परम्परा और उसकी मौलिकता का क्षरण नहीं हुआ है। पर इस परम्परा और इस मौलिकता ने समाज को क्या दिया?

मेरी ओर से इसका उत्तर यह है कि पण्डितों के चिंतन-मनन और लेखन से समाज में जो बदलाव आता है या आ सकता है वह तुरंत उस तरह ज़ाहिर नहीं हो पाता, जिस तरह बैंकों के राष्ट्रीयकरण या नोटबंदी के उपक्रमों का असर तुरंत ज़ाहिर होता है। कतिपय पण्डितों के नाम तो फिर भी गिनाए जा सकते हैं, जिनके कर्तृत्व की समाज में सार्थक बदलाव और उसके रूपांतरण में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। रमाबाई, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, रामावतार शर्मा, पाण्डुरंग वामन काणे, लक्ष्मण शास्त्री जोशी, गोपीनाथ कविराज और राहुल सांकृत्यायन ऐसे ही पण्डित हैं।

आज़ादी की लड़ाई में शामिल होने वाले पारम्परिक पण्डितों की संख्या बड़ी है। बंगाल के पण्डित इसमें बहुत आगे रहे। इनमें से कुछ शहीद भी हुए।[9]

यहाँ फिर यह सवाल किया जा सकता है कि इन पण्डितों को अब कितने लोग जानते हैं? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह अज्ञान पण्डित की विफलता कम; और राज्य, समाज और सत्ता की विफलता ज़्यादा है।

विदुषी रमाबाई (1858-1922) ने स्त्री के अस्तित्व को लेकर बुनियादी प्रश्न उन्नीसवीं शताब्दी के आख़िरी दशकों और बीसवीं के आरम्भिक दो दशकों में उठाए। उनके पिता अनंत शास्त्री कोंकणस्थ चितपावन ब्राह्मण थे, तथा पाण्डित्य की प्रतिमूर्ति भी। स्त्री के प्रश्न को ले कर वे उस शास्त्रार्थ का आरम्भ कर चुके थे, जिसे जीवन भर रमाबाई ने आगे बढाया। अनंत शास्त्री ने अपनी पहली पत्नी को संस्कृत सिखाने का प्रयास किया, उन्हें इसके लिए समाज का कड़ा विरोध झेलना पड़ा। पहली पत्नी के दिवंगत होने पर उनका दूसरा विवाह लक्ष्मीबाई से हुआ। लक्ष्मीबाई को उन्होंने पढ़ाया, इसका भी ब्राह्मण समाज ने ज़बरदस्त विरोध किया। इनका कट्टरपंथियों से शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें अनंत शास्त्री ने स्त्री शिक्षा के समर्थन में धर्मशास्त्रों से तीन सौ अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत कर के अपने प्रतिपक्षियों को निरुत्तर कर दिया।

पण्डिता रमाबाई की पुस्तक *दि हाइ कास्ट हिंदू वुमॅन* वास्तव में एक स्त्री की ओर से समग्र भारतीय समाज से संवाद का प्रस्ताव है। उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसी किताब का एक भारतीय स्त्री द्वारा लिखा जाना, जिसमें प्राचीन धर्मशास्त्रग्रंथों के प्रामाणिक अध्ययन के साथ हिंदू समाज का और उसमें स्त्री की नियति का तटस्थ वैज्ञानिक विश्लेषण हो— एक विस्मयकारी घटना है। इस पुस्तक को लिखने के पीछे रमादेवी का मुख्य उद्देश्य अमेरिकी समाज को भारतीय महिलाओं की दुर्दशा से अवगत कराना तो था ही, पुरुष सत्तात्मक भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति को ले कर एक बहस छेड़ना भी था।

संस्कृत के पण्डित समाज ने उन्हें पण्डिता और सरस्वती की उपाधि दी थी। पर इसी समाज ने उन्हें अपार यंत्रणाएँ भी दीं। उनके विवाह और विदेश-यात्राओं में दिये गये वक़्तव्यों तथा लेखों के कारण रूढ़िवादी पण्डितों से उनका टकराव हुआ, रमाबाई के मामले में उनके और रूढ़िवादियों के बीच अलंघ्य खाई प्रकट हो कर सामने आ गयी। इन रूढ़िवादियों के सिरमौर महापण्डित बालगंगाधर तिलक थे। रमा देवी ने अपने लेखन और भाषणों से विवादों और संवादों को जन्म दिया। उनके

[9] मानवेंदु बनर्जी और करुणासिंधु दास (2012) : 396-443.

समर्थन में देशमुख, रानाडे, भण्डारकर, तेलंग, आगरकर, ज्योतिबा फुले जैसे पण्डित और समाजसुधारक सामने आये, जब कि तिलक आदि ने उनके विरोध में कोई क़सर न रखी।

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर (1867–1968) वैदिक ब्राह्मणों के परिवार में जन्मे, बचपन में उन्हें वेद और व्याकरण का अध्ययन कराया गया। मुम्बई के जे.जे. स्कूल ऑफ़ आर्ट्स में उन्होंने कला की शिक्षा पायी। एक चित्रकार के रूप में उन्होंने अनेक पुरस्कार प्राप्त किये तथा 1893 में जे.जे. स्कूल ऑफ़ आर्ट्स ने उन्हें ससम्मान अपने संस्थान में अध्यापक की नौकरी दी। सातवलेकर ने वहाँ नौकरी करने के स्थान पर अपने कार्य के लिए हैदराबाद को चुना और वहाँ अपना स्टूडियो क़ायम किया। वे तेरह साल हैदराबाद में रहे, आर्य समाज के सम्पर्क में आये, स्वाधीनता संग्राम से भी जुड़े। *वैदिक राष्ट्रवाद* के नाम से एक लम्बा लेख या पुस्तिका का जब इन्होंने प्रकाशन किया, तो सरकार ने इसे राष्ट्रद्रोह समझ कर इन्हें जेल में बंद कर दिया। इस सजा से सातवलेकर को विश्वास हो गया कि वेद के अनुशीलन से राष्ट्र की नियति बदली जा सकती है। इस बीच आर्य समाज से उनकी असहमति बढ़ती गयी और उन्होंने विवेकवर्धिनी नाम से एक अलग संस्था बनायी। निजाम का कोपभाजन बनने से उन्हें हैदराबाद छोड़ना पड़ा। 1918 में ये औंध आ गये, जहाँ स्वाध्याय मण्डल नाम से एक संस्था और क़ायम की। आज़ादी के बाद सातवलेकर ने स्वाध्याय मण्डल का विस्तार किया और उसे बलसाड जिले के एक गाँव पारडी में ले आये। पारडी में अपना प्रेस डाल कर सातवलेकर यहाँ से अपने लिखे छोटे-बड़े चार सौ ग्रंथ प्रकाशित किये, मराठी, हिंदी और संस्कृत में पत्रिकाएँ निकालीं, स्वाध्याय मण्डल की ओर से संस्कृत परीक्षाएँ चलाईं, जिनसे लाखों लोग संस्कृत पढ़ सके। संस्कृत, मराठी और हिंदी में वे निरंतर लिखते रहे। उनकी संस्कृत पाठमाला पढ़ कर हज़ारों लोग यों ही संस्कृत सीख गये, जिनमें एक सुभाषचंद्र बोस भी थे, और बोस ने उनकी पाठमाला की प्रशंसा की थी।

शिव कुमार शास्त्री

पण्डितों के चिंतन-मनन और लेखन से समाज में जो बदलाव आता है या आ सकता है वह तुरंत उस तरह ज़ाहिर नहीं हो पाता, जिस तरह बैंकों के राष्ट्रीयकरण या नोटबंदी के उपक्रमों का असर तुरंत ज़ाहिर होता है। कतिपय पण्डितों के नाम तो फिर भी गिनाए जा सकते हैं, जिनके कर्तृत्व की समाज में सार्थक बदलाव और उसके रूपांतरण में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

सातवलेकर ने चारों वेदों के शुद्ध संस्करण प्रकाशित किये। चारों वेदों के मूल पाठ के साथ हिंदी और मराठी में अनुवाद किये, और हर मंत्र के एक-एक शब्द का अर्थ देते हुए फिर उसे अनूदित किया। उन्होंने भण्डारकर शोध-संस्थान से प्रकाशित *महाभारत* के सम्पूर्ण पाठ का भी हिंदी अनुवाद किया और उसे मूल पाठ के साथ प्रकाशित किया। सातवलेकर ने अकेले अपने बूते पर वह काम किया, जो कई संस्थाएँ मिल कर कई लोगों के सहयोग से न कर पायीं। 102 वर्ष की आयु में, जिस वर्ष उनकी मृत्यु हुई, उन्हें सरकार की ओर से पद्मभूषण का सम्मान मिला। सातवलेकर बीसवीं सदी के ऐसे महानायक हैं, जिन्हें अब लगभग भुला दिया गया है। उनका स्वाध्याय मण्डल अब बलसाड से किसी तरह चलाया जा रहा है। उनकी पत्रिकाएँ जो उनकी कलात्मकता से सज कर निकलती थीं, बंद हो गयीं, प्रकाशनों की अनिर्बाध गति क्षीण हो गयी।

कवि, दार्शनिक और विद्वान् महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा (1877–1928) हमारे समय की सर्वाधिक दिलचस्प और विलक्षण विभूतियों में से एक हैं। वे अपने जीवन काल में ही एक किंवदंती बन गये थे। वेदांत पर आशुतोष मुखर्जी के आग्रह पर कलकत्ता में तथा उसके बाद ऑक्सफ़र्ड में दिये

गये उनके व्याख्यान इस विषय पर सबसे प्रामाणिक वक्तव्यों में गिने जाते हैं। संस्कृत, हिंदी तथा भोजपुरी में उनकी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनमें *परमार्थदर्शनम्* उनकी एक दार्शनिक कृति है। यह एक महत्त्वाकांक्षी ग्रंथ है, जो षड्दर्शनों के आगे एक स्वतंत्र दर्शन स्थापित करने के संरंभ के साथ लिखा गया है।[10]

गोपीनाथ कविराज का भारतीय संस्कृति तथा तंत्रागमों के अनुशीलन में अप्रतिम योगदान रहा है। ये बंगाल में जन्मे, काशी में डॉ. आर्थर वेनिस के छात्र रहे। उन्होंने अपने अध्ययन का आत्मज्ञान के लिए उपयोग किया। प्रिंसेस ऑफ़ वेल्स सरस्वती भवन टेक्स्ट्स, प्रिंसेस ऑफ़ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज़ तथा योगतंत्र सीरीज़ की शृंखलाओं का सम्पादन करके उन्होंने अनेक दुर्लभ पाण्डुलिपियों तथा अनुसंधानात्मक कृतियों का प्रकाशन किया। सिद्धों तथा नाथों की परम्परा पर कविराज का प्रवर्तक कार्य है। शैव-दर्शन के ये प्रामाणिक व्याख्याकार के रूप में स्मरण किये जाते हैं। जीवन के अंतिम सात वर्ष (1969-76) ये माता आनंदमयी के आश्रम में रहे। 1918 में ये स्वामी विशुद्धानंद के शिष्य बने और निरंतर तांत्रिक साधना करते रहे। तांत्रिक साधना और सारस्वत साधना दोनों की जो सहवर्तिता गोपीनाथजी ने अपने जीवन में निभाई, उसके उदाहरण कम ही मिलेंगे। उनका स्वयं का आवास एक आश्रम और गुरुकुल बन गया था। विविध सम्प्रदायों, साधना पद्धतियों तथा दर्शन और चिंतन के प्रस्थानों में मूलभूत एकता का अनुसंधान कविराज की व्याख्या पद्धति की अपनी विशेषता है। जीवन और साधना में उन्होंने जो सामरस्य हासिल किया, उसे अपने अध्ययन और अनुसंधान में भी विनियुक्त किया। केवल शैव और शाक्त तंत्र ही नहीं, बौद्ध तथा जैन दर्शन और इस्लाम तथा यीशु धर्म की परम्पराओं का भी विवेचन उन्होंने इसी दृष्टि से किया। कविराज ने हिंदी, बंगला, अंग्रेज़ी तथा संस्कृत में विपुल साहित्य रचा। अनेक महत्त्वपूर्ण निबंधों तथा सम्पादित ग्रंथों के अलावा *आस्पेक्ट्स ऑफ़ इण्डियन थाट, बिब्लियोग्रॉफ़ी ऑफ़ न्यायवैशिषिक लिटरेचर, भारतीय संस्कृति और साधना, तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, तांत्रिक साहित्य तथा बिब्लियोग्रॉफ़ी ऑफ़ तांत्रिक लिटरेचर* उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। 1964 में उन्हें पद्मविभूषण से अलंकृत किया गया। भगवती प्रसाद सिंह की *एक मनीषी की लोकयात्रा* उनके जीवन, व्यक्तित्व और अवदान का समग्र अध्ययन और आकलन है।

पाण्डुरंग वामन काणे ने पूना के चितपावन ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया। पिता कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे और वकालत भी करते थे। *हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र* और *हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स*— ये दो उनके अद्वितीय ग्रंथ हैं। वे एल्फिस्टन महाविद्यालय में संस्कृत विभाग के आचार्य और अध्यक्ष रहे, मुम्बई विश्वविद्यालय के कुलपति और सर्वोच्च न्यायालय में वरिष्ठ अधिवक्ता, रॉयल एशियाटिक सोसायटी के फ़ेलो तथा लंदन के स्कूल और ओरिएंटल ऐंड अफ्रीकन स्टडीज़ के उपाध्यक्ष भी रहे।

1963 में काणे को भारतरत्न के सर्वोच्च नागरिक सम्मान से अलंकृत किया गया। मुम्बई की एशियाटिक सोसायटी उनके नाम पर संस्कृतविद्या के क्षेत्र में उत्कृष्ट शोधकार्य के लिए प्रतिवर्ष एक विद्वान् को महामहोपाध्याय पी.वी. काणे स्वर्णपदक देती है, उनके नाम पर वार्षिक व्याख्यान माला आयोजित करती है तथा यह संस्था महामहोपाध्याय पी.वी. काणे शोध संस्थान भी चलाती है।

लक्ष्मण शास्त्री जोशी जितने ही पारम्परिक हैं, उतने ही आधुनिक भी। उन्हें पद्मभूषण और पद्मविभूषण के सम्मान प्राप्त हुए। सौ खण्डों के विशालकाय कोश धर्मकोश के कतिपय खण्ड उनके द्वारा अपने जीवन-काल में सम्पादित व प्रकाशित किये गये। *अ क्रिटीक ऑफ़ हिंदुइज़म* उनकी मेधा का प्रमाण है। इस ग्रंथ में जोशीजी ने टेलर, जेम्स फ्रेज़र, लेसिंग, हर्डर, स्पेंसर तथा हेगेल आदि पश्चिमी विचारकों के मंतव्यों की समीक्षा के साथ भारतीय परम्पराओं की मीमांसा प्रस्तुत की है। जोशीजी ने धर्म के नाम पर रूढ़ियों और अंधविश्वासों की प्रवृत्तियों के उदय के कारणों का विश्लेषण

[10] राधावल्लभ त्रिपाठी (2015) : *उन्मीलन* का लेख.

करते हुए तार्किकता को वास्तविक धर्म का आधार माना। उन्होंने उपनिषदों तथा षड्दर्शनों की तत्त्वमीमांसा को हिंदूधर्म के मूलाधारों की गवेषणा के लिए अनिवार्य माना। धार्मिक संगठनों का अंत:संबंध उन्होंने सामाजिक संगठनों के साथ स्थापित किया। हेगेल द्वारा की गयी हिंदू धर्म की समीक्षा से वे असहमति प्रकट करते हैं। वे चेतना के स्थान पर पदार्थ को सारे विचारों और संस्कृतियों का मूल मानते हैं। भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक विकास को ले कर उनकी दृष्टि गोविंद चंद्र पाण्डेय से बहुत भिन्न है। उनके अनुसार परलोक की अवधारणा मनुष्य की कमज़ोरी है। पूर्व-मीमांसा उनकी दृष्टि में समाजशास्त्र है, उत्तरमीमांसा अध्यात्मशास्त्र, तथा नैतिकता दोनों के मूल में है। पुराणों द्वारा प्रचारित अंधविश्वासों को वे धर्म के लिए घातक मानते हैं। हिंदू धर्म में पुराणों द्वारा प्रचारित निरर्थक प्रवाद भी हैं, और चिंतन की ऊँचाइयाँ भी, जो मानवीय मूल्यों और सार्वजनीन सत्य को प्रकाशित करती हैं। *चार्वाक इतिहास आणि तत्त्वज्ञान* शीर्षक पुस्तक की विशद भूमिका में उन्होंने चार्वाक-दर्शन की अहमियत पर विचार किया है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन इन सबमें और भी विलक्षण और मेधावी हैं। वे रूढ़िभंजक और विद्रोही भी हैं, चिर यायावर, बहुभाषाविद् और प्रखर अधीती भी। उन्हें काशी की पण्डित सभा ने महापण्डित की उपाधि से अलंकृत किया। राहुलजी ने भीतर और बाहर अगणित यात्राएँ की। उन्होंने कई क्षेत्रों में प्रवर्तक कार्य किये। *संस्कृत काव्यधारा* और *हिंदी काव्यधारा* के सम्पादन द्वारा साहित्य की परम्परा का पुनराविष्कार और पुनर्निर्माण किया। *यूरोपीय दर्शन* तथा *मध्य एशिया का इतिहास* में संस्कृतियों और सभ्यताओं की पड़ताल की तथा धर्मकीर्ति के *प्रमाणवार्तिक* तथा *धम्मपद* आदि बौद्ध और पालिग्रंथों ग्रंथों के सम्पादन द्वारा बौद्ध धर्म और दर्शन की परम्पराओं की कड़ियाँ जोड़ीं।

के. सुब्रह्मण्य अय्यर (1896-1980) इंटर की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद भारत-विद्या के अध्ययन के लिए फ्रांस चले गये। एडिनबरा तथा लंदन के विश्वविद्यालयों से उन्होंने संस्कृत में एमए तथा आनर्स के साथ एमए किया। सिल्वाँ लेह्वी तथा ए.बी. कीथ जैसे श्रेष्ठ पाश्चात्य पण्डित उनके गुरु रहे। भर्तृहरि के *वाक्यपदीयम्* पर अय्यर का कार्य बीसवीं सदी में व्याकरणदर्शन के क्षेत्र में अद्वितीय काम है। कांतिचंद्र पाण्डेय (1898-1974) ने अभिनवगुप्त पर प्रवर्तक कार्य किया। कांतिचंद्र पाण्डेय का जन्म कानपुर के निकट एक गाँव में हुआ। उनके पिता एक अच्छे पारम्परिक पण्डित थे। वाराणसी के संस्कृत महाविद्यालय में भी उनकी आरम्भिक शिक्षा हुई, एमए तथा एमओएल उत्तीर्ण कर 1918 से लखनऊ में सुब्रह्मण्य अय्यर के निर्देशन में इन्होंने अभिनवगुप्त के ऐतिहासिक और दार्शनिक अध्ययन पर शोधकार्य आरम्भ किया।[11] उनके कार्य से बीसवीं शताब्दी में अभिनवगुप्त भारतीय-दर्शन और काव्यचिंतन के केंद्र में

वामाचरण भट्टाचार्य

सभी पण्डित अपने आप में बड़ी संस्था बन कर अपने जीवनकाल में सक्रिय रहे। अपने समय के जिस समाज पर उन्होंने अपनी ज़बरदस्त छाप छोड़ी, वह एक सीमित समाज था, जो अब लगभग बिखर गया है। यह बिखराव अवांछनीय वैश्विक ताक़तों के हस्तक्षेप और पूँजीवाद के नवसंस्करणों के अभ्युदय का परिणाम है। इससे अपने समकाल में पण्डित के अवदान का महत्त्व कम नहीं हो जाता। उनके अवदान से संस्कृत की ज्ञान-परम्परा ही नहीं, भारतीय साहित्य और भारतीय समाज भी वैचारिक दृष्टि से सम्पन्नतर बना।

[11] सूचनाएँ *अजस्रा* संस्कृत त्रैमासिक 6.3-4 में प्रकाशित सामग्री से साभार.

प्रतिष्ठित हुए। तुलनात्मक सौंदर्यशास्त्र पर भी उन्होंने प्रवर्तक कार्य किया, तथा शैव-दर्शन और अभिनवगुप्त संबंधी पाण्डुलिपियों की खोज की दिशा में भी उनका प्रेरक काम है। सेवानिवृत्ति के बाद उन्होंने अपनी जमा पूँजी लखनऊ विश्वविद्यालय में अभिनवगुप्त के नाम पर सौंदर्यशास्त्र और भारतीय दर्शन का शोध-संस्थान स्थापित करने के लिए दे दी। आज उनके द्वारा स्थापित संस्थान ख़स्ता हाल में है और इसमें पाण्डेयजी द्वारा अपूर्व लगन से इकट्ठी की गयी पाण्डुलिपियाँ इधर-उधर हो गयी हैं।

ये सभी पण्डित अपने आप में बड़ी संस्था बन कर अपने जीवनकाल में सक्रिय रहे। अपने समय के जिस समाज पर उन्होंने अपनी ज़बरदस्त छाप छोड़ी, वह एक सीमित समाज था, जो अब लगभग बिखर गया है। यह बिखराव अवांछनीय वैश्विक ताक़तों के हस्तक्षेप और पूँजीवाद के नवसंस्करणों के अभ्युदय का परिणाम है। इससे अपने समकाल में पण्डित के अवदान का महत्त्व कम नहीं हो जाता। उनके अवदान से संस्कृत की ज्ञान-परम्परा ही नहीं, भारतीय साहित्य और भारतीय समाज भी वैचारिक दृष्टि से सम्पन्नतर बना।

वाद, संवाद और गुरु-शिष्य परम्परा

वाद, संवाद और गुरु-शिष्य परम्परा पण्डित के तीन विशेष चिह्न हैं। इन तीनों की निष्पत्तियाँ पण्डितों के संदर्भ में बाहर के संसार में ही नहीं, उनके अंतर्जगत् में भी लक्षित होती हैं। वे परम्पराओं से वाद और संवाद करते हैं, उनकी गुरु-शिष्य परम्परा भी केवल बाहर की दुनिया में ही सीमित नहीं होती।[12] गुरु-शिष्य परम्परा के स्थूल और सूक्ष्म दो रूप हैं। संस्कृत में सम्प्रदाय शब्द इन दोनों रूपों का बोधक है, वह ज्ञान की धारा के सातत्य का भी बोधक है।

पण्डित जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं, वह सम्प्रदाय के इस तात्पर्य पर टिकी है। शिष्यों की परम्परा गुरुओं की पहचान बनती थी और गुरुओं की परम्परा शिष्यों की। गंगानाथ झा (1872-1941), मधुसूदन ओझा, हाराण चंद्र भट्टाचार्य और राजाराम शास्त्री जैसे दिग्गज विद्वज्जन शिवकुमार शास्त्री के शिष्य बन कर गौरवान्वित हुए, रामावतार शर्मा, नित्यानंद पर्वतीय और दामोदरलाल गोस्वामी जैसे प्रखर पण्डित गंगाधर शास्त्री के शिष्य रहे।

रघुनाथ शर्मा (1899-1989) ने सुब्रह्मण्य अय्यर की प्रेरणा से *वाक्यपदीयम्* पर *अंबाकर्त्री* नाम से विशद टीका का प्रणयन किया, जिसका प्रकाशन आठ खण्डों में 1963 से 1996 के बीच हुआ। रामप्रसाद त्रिपाठी, देवस्वरूप मिश्र तथा रामशंकर भट्टाचार्य जैसे पण्डित इनके शिष्य रहे।

ये सभी पण्डित चलते-फिरते पुस्तकालय जैसे थे। जहाँ वे रहते थे, वहाँ एक विद्यापीठ बन जाता। अध्यापन करते समय जो ग्रंथ पढ़ाना है, उसकी पुस्तक हाथ में लिए बिना उससे एक-एक पंक्ति बोलते हुए उसका अर्थ खोलते हुए पढ़ाते जाते। पूरा ग्रंथ उन्हें कण्ठस्थ रहता। रामप्रसाद त्रिपाठी को मैंने अतिथि आचार्य के रूप में सागर विश्वविद्यालय में बुलाया। वे छह महीने तक सागर में रहे। *वाक्यपदीयम्* का ब्रह्मकाण्ड उन्होंने पंक्ति- पंक्ति हम लोगों को पढ़ाया, पर कभी भी *वाक्यपदीयम्* की पुस्तक उन्होंने पास नहीं रखी। *सिद्धांतकौमुदी* पढ़ाई, उसमें भी सूत्र के साथ वृत्ति और *मनोरमा टीका* की पंक्तियाँ वे जुबानी बोलते जाते और पढ़ाते जाते।

पण्डितों के घर पर छात्र निरंतर पढ़ने के लिए आते और वे नि:शुल्क अध्यापन करते रहते थे। वे स्वयं दरिद्रों का जीवन बिताते रहे, पर अपनी निरीहता में भी वे अपने विद्या-वैभव से पुजते रहे। डॉ. वेनिस क्वींस कॉलेज के प्राचार्य थे, गंगाधर शास्त्री इसी महाविद्यालय में अध्यापक होने के नाते उनके मातहत थे, पर डॉ. वेनिस सार्वजनिक मंचों पर भी उन्हें प्रणाम करते थे।

काशी के अनेक पण्डित प्रात:काल से लगा कर सायंकाल या रात्रि तक भी हर तरह के विद्यार्थियों

---

[12] विवरण के लिए देखें, राधावल्लभ त्रिपाठी (2018).

और जिज्ञासुओं को निःशुल्क ज्ञान वितरण करने में लगे रहते। पहला संस्कृत आयोग सुनीतिकुमार चटर्जी की अध्यक्षता में 1957 में गठित हुआ। काशी यात्रा के दौरान आयोग के सदस्य काशी में पाठशाला पद्धति के अध्यापन का नमूना देखना चाहते थे। रात्रि हो चुकी थी और अगले दिन आयोग को अन्यत्र प्रस्थान करना था, यह पूछने पर कि क्या कोई पण्डित ऐसे भी हैं, जो देर रात तक घर में अध्यापन करते रहते हैं, उन्हें बताया गया कि महाशयजी प्रातःकाल से पढ़ाना आरम्भ करते हैं, और उनका पाठ रात तक चलता है। आयोग के सदस्य महाशयजी के आवास पर गये, और सचमुच उन्होंने देखा कि रात का पहला पहर बीत रहा है, पर महाशयजी अध्यापन में तल्लीन हैं।

श्रीगंगाधर शास्त्री

सभी पण्डित चलते-फिरते पुस्तकालय जैसे थे। जहाँ वे रहते थे, वहाँ एक विद्यापीठ बन जाता। अध्यापन करते समय जो ग्रंथ पढ़ाना है, उसकी पुस्तक हाथ में लिए बिना उससे एक-एक पंक्ति बोलते हुए उसका अर्थ खोलते हुए पढ़ाते जाते। पूरा ग्रंथ उन्हें कण्ठस्थ रहता।

अनेक पण्डित अपनी ज्ञानदीप्ति के कारण अपने जीवनकाल में उनके शिष्यों द्वारा ही नहीं, भद्रलोक और सामान्य जनों द्वारा भी देवता की तरह पूजे जाते रहे। पण्डित शिवकुमार शास्त्री के घर के पास ही फूलों की दूकान थी। उनके दर्शन के लिए जो भी पहुँचते, वे इस दूकान से फूलों की माला ख़रीदते और उनके दर्शन के साथ उनका अर्चन और वंदन भी करते।

पण्डित मौखिक परम्परा में रमे हुए थे। निरंतर अध्यापन और शास्त्र-चर्चा तथा शास्त्रों पर बहस करते रहने के कारण अनेक बड़े-बड़े पण्डितों में लिखने की प्रवृत्ति शून्य रही। उनकी पहचान उनके द्वारा लिखी पुस्तकों से नहीं, वाद या शास्त्रार्थ में उनकी पटुता और तार्किकता से होती थी।

शास्त्रार्थी पण्डित सारे देश में कोने-कोने में थे। बहस करना उनका व्यसन था। इसमें अपने गुरु को पराजित कर देना भी सहज रूप में लिया जाता था। रामावतार शर्मा ने युवावस्था में अपने दो उद्भट गुरुओं— गंगाधर शास्त्री और शिवकुमार शास्त्री— को पराजित किया था। वामाचरण भट्टाचार्य ने केवल 18 वर्ष की आयु में राममोहन सार्वभौम जैसे दिग्गज पण्डित को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था।[13] यहाँ तक कि मिथिला के धर्मदत्त झा, जो पिछली सदी के सबसे महान् नैयायिकों में गिने जाते हैं, वामाचरण भट्टाचार्य से पराजित हुए। सतीशचंद्र विद्याभूषण जैसे योग्य शिष्य वामाचरणजी ने पैदा किये।

काशी और कलकत्ता के पण्डितों के शास्त्रार्थों के संबंध में अनेक कथाएँ हैं। एक बार दक्षिण से आये किसी पण्डित ने काशी के पण्डितों को शास्त्रार्थ की चुनौती दी, जिसमें शर्त यह थी कि सारा शास्त्रार्थ छंदों में होगा। महाराज प्रभुनारायण सिंह ने पण्डित गंगाधर शास्त्री का स्मरण किया। गंगाधर शास्त्री ने कहलवाया कि उनका स्वास्थ्य अच्छा न होने से वे न आ सकेंगे, पर उनके शिष्य दामोदर लाल गोस्वामी उनके स्थान पर चुनौती को स्वीकार करेंगे। इस शास्त्रार्थ में दामोदर लाल गोस्वामी विजयी हुए।[14] शंकराचार्य की तरह दयानंद ने शास्त्रार्थ में दिग्विजय के लिए देश की यात्रा की, अनेक पण्डित केवल वाद करने के लिए सारे देश में यात्रा करते थे। इनमे दामोदर शास्त्री के शास्त्रार्थ की कथाएँ बलदेव उपाध्याय ने दी हैं। धर्मदत्त बच्चा झा जैसे अपने समय के सबसे प्रखर नैयायिक को भी उनके द्वारा शास्त्रार्थ में पराजित कर देने की कथा का ज़िक्र उपाध्यायजी तथा खिस्तेजी, दोनों ने

[13] मानवेंदु बनर्जी और करुणासिंधु दास (2012) : 167.

[14] बलदेव उपाध्याय (1994) : 467.

किया है। खिस्तेजी ने इस घटना का कुछ अतिरंजित वर्णन किया है, जिसके अनुसार इसमें 700 मैथिल पण्डित उपस्थित थे।[15] गंगानाथ झा उस समय बी.ए. के छात्र थे और इस शास्त्रार्थ में श्रोता के रूप में उपस्थित थे। झा द्वारा दिया निर्णायकों आदि का विवरण तो लगभग वही है, जो खिस्तेजी ने दिया है, पर निर्णय के संबंध में वे कहते हैं कि यह शास्त्रार्थ बराबरी पर छूटा।

काशी- नरेश के संरक्षकत्व में चलने वाली पण्डित सभा में प्रतिमाह विचारगोष्ठी होती थी।[16]

उमापति त्रिपाठी (1834–1873) ने ग्वालियर, रीवा, बिठूर, लखनऊ तथा अन्य अनेक नगरों में शास्त्रार्थ के लिए यात्राएँ कीं, और अपनी विजय की पताका फहराते हुए राजाओं से सम्मान में काफ़ी रक़म अर्जित की। बाद में वे अयोध्या में बस गये और अपने पास की राशि पण्डितों को सम्मान में दे दी। उनके भक्तजन उनकी वाक्पटुता की तुलना शंकराचार्य और पण्डितराज से करते आये हैं। रीवा के दरबार में उन्होंने भागवत के एक श्लोक के 43 अलग-अलग अर्थ बता कर पण्डितों को चकित कर दिया था।

गंगाधर शास्त्री, शिवकुमार शास्त्री आदि पण्डितों को क्वींस कॉलेज या संस्कृत महाविद्यालय में मिलने वाले मामूली वेतन की तुलना में दस गुने अधिक वेतन पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में सादर बुलाया गया, पर काशी छोड़ कर दोनों नहीं गये। एनी बेसेंट ने कैलासचंद्र शिरोमणि को अपने पिता के श्राद्ध के निमित्त कुछ दक्षिणा राशि भेजी थी, वे श्राद्ध की दक्षिणा नहीं लेते थे, सो उन्होंने वह राशि लौटा दी। पर दक्षिणा लौटाने से होने वाले पाप का विचार कर के वे खिन्न भी हुए और इसका विधिवत् उन्होंने प्रायश्चित्त किया। शारदा एक्ट के विरोध में पंचानन तर्करत्न ने महामहोपाध्याय की पदवी लौटा दी थी।[17]

राजाओं के आश्रय में शास्त्रार्थ-सभाएँ अनेक रियासतों में चलती रही हैं। महाराजा कृष्णचंद्र (1710–1782) पण्डितों के आश्रयदाता थे। कृत्यराज और आह्निकचर्या आदि धर्मशास्त्र के नये ग्रंथ उनके आश्रय में रहने वाले पण्डितों ने तैयार किये।[18] उनकी अध्यक्षता में पण्डितों की शास्त्रार्थ सभाएँ होती थीं। श्राद्ध और विवाह के अवसरों पर भी शास्त्रार्थ समायोजित कर लिए जाते थे। उनके पुत्र शिवदत्त (1728–1788) ने यह परम्परा जारी रखी।[19] राजा नवकृष्ण के आश्रय में शिवानंद विद्यावाचस्पति और जगन्नाथ तर्कालंकार जैसे पण्डित रहे। सिन्हा ने इन पण्डितों के बाहर से आने वाले पण्डितों के साथ होने वाले शास्त्रार्थों का रोचक विवरण दिया है।[20] 16 फ़रवरी, 1854 के दिन नरैल के जमींदार के श्राद्ध के अवसर पर बड़ा शास्त्रार्थ आयोजित किया गया। इसमें राजा राधाकांत देव की अध्यक्षता थी। 18 फ़रवरी 1854 के *संवाद भास्कर* अख़बार में इसका ब्योरा छपा है। इन शास्त्रार्थों में नंदकुमार नाम के पण्डित की निरंतर विजय के क़िस्से ईश्वरचंद्र विद्यासागर तक पहुँचे और उन्होंने नंदकुमार को संस्कृत महाविद्यालय में नौकरी के लिए आमंत्रित किया।[21] विवाहों या अन्य उत्सवों में भी पण्डितों के शास्त्रार्थ होते थे।

नवद्वीप और मिथिला विद्या के केंद्र बने रहे। दोनों में प्रतिस्पर्धा भी खूब थी, मिथिला के पण्डित बंगाल के पण्डितों को पोथियों की प्रति नहीं देते थे। पण्डित वासुदेव सार्वभौम ने गंगेशोपाध्याय के *तत्त्वचिंतामणि* जैसे विशालकाय ग्रंथ सम्पूर्ण तथा *न्यायकुसुमांजलि* के एक बड़े अंश को गुरुमुख से

---

[15] नारायण शास्त्री खिस्ते (1997) : 5.

[16] बलदेव उपाध्याय (1994) : 136.

[17] वही : 495.

[18] समित सिन्हा (1993) : iii-vi, 1–9.

[19] वही : 4.

[20] वही.

[21] हीरालाल शुक्ल (1989) : 33.

सुन कर ही कण्ठस्थ कर लिया था, नवद्वीप लौट कर उन्होंने दोनों को लिपिबद्ध किया।

सोलहवीं शताब्दी नवद्वीप को एक विश्वविद्यालय के रूप में जाना जाता था और यहाँ से दी जाने वाली तर्कचूड़ामणि, तर्कालंकार, शिरोमणि, विद्यावागीश, तर्कवागीश आदि उपाधियों की सारे देश में प्रतिष्ठा थी।

पण्डित और नवाचार

पण्डित समय के बदलाव के साथ अपनी पाठ्यचर्याओं को बदलते आये हैं। मुग़ल शासन में अनेक पण्डित फ़ारसी सीख कर फ़ारसी–संस्कृत कोश बना रहे थे, तथा फ़ारसी के ग्रंथों का संस्कृत में तथा संस्कृत के ग्रंथों का फ़ारसी में अनुवाद कर रहे थे।

उपनिवेशवाद के साथ पण्डितों ने अपने अध्ययन का पुनः अभिमुखीकरण किया। 1850 से 1947 से बीच संस्कृत के छात्रों को युरोप की संस्कृति से परिचित कराने के लिए पण्डितों ने अनेक पुस्तकों का प्रणयन किया। मधुसूदन तर्कालंकार ने *इङ्ग्लैण्डीयव्याकरणसारः* में अंग्रेज़ी का व्याकरण संस्कृत में लिखा। विनायक भट्ट ने *अंग्रेज़चंद्रिका तथा इतिहासतमोमणिः* में अंग्रेज़ों की संस्कृति और इंग्लैण्ड के इतिहास पर विचार किया। इसी क्रम में बैकन के ग्रंथ का *बेकनीयसूत्रव्याख्यानम्* के नाम से, बर्कले के प्रिंसिपल्स ऑफ़ ह्यूमन नॉलेज का *ज्ञानसिद्धांतचंद्रिका* के नाम से तथा लॉक के ग्रंथ का अनुवाद *मानवविज्ञानविषयकशास्त्रम्* के नाम से किया गया। गुमानी कवि का उल्लेख ऊपर किया गया है। उन्होंने अदालतों तथा अंग्रेज़ों के प्रशासन में प्रयुक्त अंग्रेज़ी और फारसी भाषा की पदावली से परिचित कराने के लिए *लाटद्वयप्रकरणम्* की रचना की। ये सारे प्रयास यह सूचित करते हैं कि पण्डितों के लिए संस्कृत प्राचीन शास्त्रों के चिंतन की ही नहीं, आधुनिक ज्ञान–विज्ञान पर विमर्श के लिए भी सहज सम्प्रेषणीय भाषा थी।

रामराय बसु ने *ईसाईविवरणामृतम्* और *ज्ञानोदयः* नामक पुस्तकों ने हिंदू धर्म और उसकी परम्पराओं की कड़ी समीक्षा करते हुए ईसाईयत के गुणों का वर्णन किया। रामराय बसु, नीलकण्ठ शास्त्री गोरे तथा पण्डिता रमाबाई हिंदू धर्म के कट्टरपंथ से उद्विग्न हो कर ईसाई भी बने।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर, राहुल सांकृत्यायन तथा रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर पश्चिम से मुठभेड़ द्वारा पण्डितों में पनपने वाले नये सोच और वैज्ञानिक दृष्टि के अच्छे उदाहरण हैं। तीनों ने न केवल भारत के अतीत की अपने वर्तमान के संदर्भों में मीमांसा की, तीनों ने संस्कृत सीखने के लिए छात्रोपयोगी व्याकरण की पुस्तकों का प्रणयन किया, जिनसे बंगाल और महाराष्ट्र में ही नहीं, देश के अन्य अनेक प्रांतों में संस्कृत पढ़ाने की विधि में क्रांतिकारी बदलाव आये।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर, राहुल सांकृत्यायन तथा रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर पश्चिम से मुठभेड़ द्वारा पण्डितों में पनपने वाले नये सोच और वैज्ञानिक दृष्टि के अच्छे उदाहरण हैं। तीनों ने न केवल भारत के अतीत की अपने वर्तमान के संदर्भों में मीमांसा की, तीनों ने संस्कृत सीखने के लिए छात्रोपयोगी व्याकरण की पुस्तकों का प्रणयन किया, जिनसे बंगाल और महाराष्ट्र में ही नहीं, देश के अन्य अनेक प्रांतों में संस्कृत पढ़ाने की विधि में क्रांतिकारी बदलाव आये।

संस्कृत के पण्डितों का प्रगतिशील ख़ेमा नये भारतीय समाज के निर्माण के उपक्रमों को लेकर सचेत और सक्रिय था। *मेरे सत्य के प्रयोग* में गाँधीजी लिखते हैं, 'रामकृष्ण भण्डारकर मुझ से वैसे मिले, जैसे बाप बेटे को भेंटता हो। जब मैं उनके यहाँ गया, वह दोपहर का वक़्त था। ऐसे समय भी मैं अपना काम कर रहा था यह बात इस परिश्रमी पण्डित को प्यारी लगी और तटस्थ सभापति संबंधी
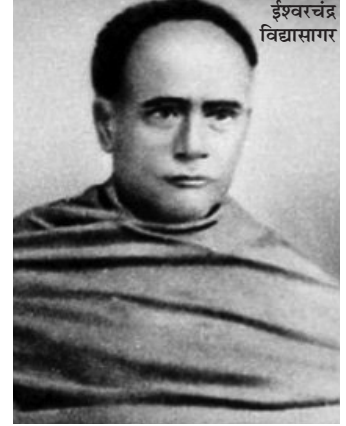
मेरा आग्रह सुन कर दैट्स इट, दैट्स इट (यही ठीक है, यही ठीक है) के उद्‌गार उनके मुख से सहज निकल गये।'[22] भण्डारकर ने गाँधीजी से कहा था मैं राजनीतिक कार्य में हिस्सा लेना बंद कर चुका हूँ, फिर भी तुम्हारा मामला इतना मजबूत और तुम्हारा उद्यम इतना स्तुत्य है कि मैं तुम्हारी सभा में आने से इंकार नहीं करूँगा। उन्होंने गाँधी द्वारा बुलाई सभी दलों की सभा में सभापति भी होना स्वीकार किया। गाँधीजी पूना के विद्वानों की त्यागी मण्डली से प्रभावित थे, जो बिना किसी शोर-शराबे के, बिना आडम्बर के काम करने के आदी थे।

सातवलेकर की तरह रामकृष्ण भण्डारकर भी अब विस्मृतप्राय विभूति हैं। 1917 में क़ायम हुआ भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध-संस्थान उनकी कीर्ति का एक स्तम्भ है।

दार्शनिक पण्डितों के नये चिंतन का नमूना *परमार्थदर्शनम्* जैसे ग्रंथों में देखा जा सकता है। *परमार्थदर्शनम्* में तीन सिद्धांत प्रमुख हैं— सर्वात्मकतावाद, विश्ववैचित्र्यवाद तथा देहात्मवाद। रामावतार शर्मा की यह पुस्तक स्थापित मान्यताओं को कहीं झकझोरती है, कहीं जड़ से उखाड़ फेंकती है और कहीं उनका प्रतिरोपण करती है। स्थापित सिद्धांतों को चुनौती देने वाले काशी के पण्डितों में बीसवीं सदी के अग्रगण्य नैयायिक बदरीनाथ शुक्ल भी स्मरणीय हैं। उन्होंने देहात्मवाद को न्याय-दर्शन सम्मत बताते हुए नयी स्थापना दी। शुक्लजी ने न्याय-दर्शन सम्मत मुक्ति में आनंद का समावेश कर के भी एक अलग लीक बनाई थी।

रामावतार शर्मा तथा शुक्लजी अपने समकाल में उठ रहे आध्यात्मिक और नैतिक प्रश्नों से जूझते हैं तथा समाज में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा को लेकर एक जीवनशैली विकसित किये जाने की बात करते हैं। अपने देहात्मवाद के समर्थन में बदरीनाथ शुक्ल भी दृढ़ आग्रह के साथ यह प्रतिपादित करते हैं कि इस वाद द्वारा नैतिकता के उच्च्व मानदण्डों की अधिक सहजता से रक्षा हो सकती है। रामावतार शर्मा भी परमार्थदर्शन को जीवन के नैतिक प्रश्नों के संदर्भ में परिभाषित करते हैं।

गोपीनाथ कविराज ने एक परिपूर्ण जीवन-दर्शन की परिकल्पना प्रस्तुत की, जिसे उन्होंने अखण्ड महायोग कहा। 1938 से लेकर वे इस अखण्ड महायोग की साधना स्वयं करते रहे। अखण्ड महायोग को पूर्ण अद्वैतवाद भी कहा गया है। बुद्ध को भी कविराज ने अद्वैतवादी माना है। कविराज जिस अद्वैतवाद का प्रवर्तन करते हैं, वह शंकर के अद्वैत से आगे जाता है। शंकर के अद्वैत में द्वैताभास बना रहता है। इस दृष्टि से कविराज द्वैत भक्ति और अद्वैत भक्ति के तारतम्य का प्रतिपादन करते हैं। अद्वैत भक्ति अज्ञानमूलक द्वैतभक्ति से भिन्न है।

अखण्ड महायोग में साधना तथा मुक्ति की परिकल्पना दो भूमिकाओं पर की गयी है— व्यष्टि साधना तथा समष्टि साधना अथवा व्यक्ति की मुक्ति तथा समूह की मुक्ति।

गंगानाथ झा (स्वामी करपात्री) मीमांसा, न्याय और काव्यशास्त्र के ग्रंथों के आधुनिक भाष्यकार हैं। विशेषरूप से पूर्वमीमांसा के समग्र परिप्रेक्ष्य को उजागर करने के लिए वे स्मरणीय हैं। स्वामी करपात्री के ग्रंथ पारम्परिक दृष्टि की प्रामाणिक व्याख्या के लिए अध्येतव्य हैं। *वेदार्थपारिजात, वेदस्वरूपविमर्शः, वेदप्रामाण्यमीमांसा, श्रीविद्यारत्नाकरः भक्तिरसार्णवः* संस्कृत में उनकी शास्त्रीय रचनाएँ हैं। *विचारपीयूष, भक्तिसुधा, श्रीमद्भागवततत्त्व, रामराज्य* और *मार्क्सवाद* तथा *रामायणमीमांसा* हिंदी में उनके ग्रंथ हैं। सुधाकर द्विवेदी तथा बापूदेव शास्त्री भारतीय गणित और सिद्धांत ज्योतिष के व्याख्याकार हैं। सीहोर में ज़िला मजिस्ट्रेट के पद पर कार्यरत लेंसलोट विल्किंसन बापूदेव शास्त्री की मेधा से प्रभावित हुए। उन्होंने उनके लिए आधुनिक गणित के अध्ययन का भी प्रबंध किया। बापूदेव शास्त्री ने त्रिकोणमिति पर संस्कृत में ग्रंथ लिखा। इनकी उपलब्धियों के कारण इन्हें रॉयल एशियाटिक

[22] मोहनदास करमचंद गाँधी (2012) : 213.

सोसायटी का फ़ेलो बनाया गया।[23] बापूदेव शास्त्री ने पंचांग पद्धति का भी परिष्कार किया। राजेश्वर शास्त्री द्रविड ने अर्थशास्त्र के अध्ययन की आधारशिला रखी, तथा भारतीय अर्थशास्त्र के पश्चिमी राजनीतिशास्त्र के साथ तुलनात्मक विवेचन का उपक्रम किया। उनकी कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर टीका *वैदिकसिद्धांतरक्षिणी* तथा *जयमंगला* टीका अर्थशास्त्र के अध्ययन में उनका महत्त्वपूर्ण अवदान है।

उन्नीसवीं सदी में पण्डित परम्परा में एक नवाचार क्रोडपत्र लेखन के रूप में सामने आया। मिथिला तथा दक्षिण के पण्डितों में इसका विशेष प्रचलन हुआ। क्रोडपत्र पुरानी पोथियों के हाशियों पर योग्य पण्डितों द्वारा लिखी गयी टिप्पणियाँ हैं। अलग से भी टिप्पणियों के रूप में क्रोडपत्र निर्मित किये गये।

केशवराम काशीराम शास्त्री

पण्डितों द्वारा नवीन आचारसंहिता तथा नये समाज के निर्माण की परिकल्पना और तैयारी का उदाहरण *महानिर्वाणतंत्र* नामक ग्रंथ है। *महानिर्वाणतंत्र* 1775 से 1875 के दौरान तैयार किया गया। इसके प्रणेता बंगाल के पण्डितों में से ही कुछ रहे होंगे। सुरेश चंद्र बनर्जी इसकी रचना के पीछे राजा राम मोहन राय के गुरु हरिहरानंद नाथ का हाथ मानते हैं।

पण्डित तथा भारतीय नवजागरण

सातवलेकर, क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय जैसे पण्डितों ने वेद, उपनिषद् तथा संस्कृत शास्त्रों के अनुशीलन द्वारा वैश्विक विचारधाराओं तथा वैश्विक शक्तियों के सम्मुखीकरण की तैयारी की। क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय सुभाषचंद्र बोस के सहपाठी रहे। जब सुभाष बाबू ने उन्हें इण्डियन नेशनल आर्मी में सम्मिलित होने के लिए पत्र लिखा, तो क्षेत्रेशजी ने उत्तर में लिखा कि वे इन दिनों वेदों पर अनुसंधान कार्य में लगे हुए हैं, ताकि वेदों पर युरोप के विद्वानों ने जो मिथ्या प्रवाद फैलाए हैं उनका निराकरण हो सके, और साहबों को साहबों की भाषा में उत्तर दिया जा सके।

काशी के पण्डित नवाचार से विमुख नहीं रहे। वे संगठन क्षमता भी प्रदर्शित कर सकते थे। गंगाधर शास्त्री के पास कोई ब्राह्मण यह अनुरोध लेकर पहुँचा कि ज्योतिष्टोम यज्ञ कराना है, पर उसके पास इसके लिए कोई धनराशि नहीं है। शास्त्रीजी के प्रयासों से श्रौतयज्ञ के सम्पन्न होने का विलक्षण प्रयोग सम्भव हो सका। प्रमदादास मित्र तथा नीलकण्ठ गोरे जैसे पण्डितों ने पारम्परिक पण्डितों के ख़िलाफ़ भी संघर्ष किया। प्रमदादास मित्र बनारस संस्कृत कॉलेज में अंग्रेज़ी के प्राध्यापक रहे, और वे संस्कृत के माध्यम से अंग्रेज़ी पढ़ाते थे। आर.टी.एच. ग्रिफ़िथ तथा जे.आर. वेलेंटाइन के साथ उन्होंने काम किया। बाद में इन्हीं विद्वानों के साथ उनका संघर्ष भी हुआ। जॉर्ज थीबो द्वारा संस्कृत के पाठ्यक्रम में बदलाव करते हुए मेक्समूलर, जान म्यूर तथा एच.टी. कोलब्रुक के अनुसंधानों को भी पाठ्यक्रम में समाविष्ट करने के प्रस्ताव का प्रमदादास ने यह कहते हुए कड़ा विरोध किया कि इन पाश्चात्य विद्वानों को तो अभी भारतीय पण्डितों से काफ़ी कुछ सीखना है। प्रमदादास मित्र ने इस संदर्भ में लोकशिक्षण संचालक को 2 अप्रैल, 1984 के दिन पत्र भेजते हुए अपना विरोध दर्ज कराया था।[24]

आर्यों के आव्रजन तथा वेदों के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की व्याख्याओं का भी खण्डन प्रमदादास ने *पण्डित* पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख (नवम्बर, 1876) में किया।

---

[23] बलदेव उपाध्याय (1994) : 193.

[24] माइकेल डॉड्सन (2007) : 45.

1867 में मेक्समूलर ने *पण्डित* पत्रिका में *ऋग्वेद* के अपने संस्करण के विषय में विज्ञप्ति प्रकाशित करायी। पण्डितों ने मेक्समूलर का कड़ा विरोध किया।

परम्परा, रूढ़ि और आधुनिकता के द्वंद्व में पण्डित

आरम्भ से ही संस्कृत की शास्त्र-परम्परा व सारस्वत-साधना के दो पक्ष रहे हैं। एक में वे अतीतोपजीवी, आत्मकेंद्रित और शास्त्र के आलोड़न में गहरे गोते लगाती रह जाती हैं। दूसरे में वे शास्त्र व चिंतन की बड़ी सम्भावनाओं को परखती हैं। इस प्रक्रिया में तत्त्वबोध के नये मार्ग खुलते हैं, पर पंक्तिबोध की गहराइयाँ पीछे भी छूट सकती हैं।

दोनों पक्षों की अपनी क्षमताएँ व सीमाएँ हैं। एक रूढ़िवाद व संकीर्णता में पर्यवसित हो कर चुकने लगता है, दूसरा अपने स्वच्छंदतावाद में भटक सकता है। संस्कृत की परम्परा में वैदिक काल से लगा कर आज तक इन दोनों में परस्पर तनाव, साहचर्य व द्वंद्व बना रहा और दोनों ने एक-दूसरे को पोसा भी। एक-दूसरे को छीला और काटा भी। कई बार पण्डित को संवाद के लिए स्फूर्त या उत्प्रेरित करने वाले एक आउट-साइडर या बाहरी व्यक्ति की भी आवश्यकता होती है।

पण्डितों द्वारा नवीन आचारसंहिता तथा नये समाज के निर्माण की परिकल्पना और तैयारी का उदाहरण *महानिर्वाणतंत्र* नामक ग्रंथ है। *महानिर्वाणतंत्र* 1775 से 1875 के दौरान तैयार किया गया। इसके प्रणेता बंगाल के पण्डितों में से ही कुछ रहे होंगे। सुरेश चंद्र बनर्जी इसकी रचना के पीछे राजा राम मोहन राय के गुरु हरिहरानंद नाथ का हाथ मानते हैं। इसमें आदि ब्रह्म-समाज द्वारा प्रचारित विचारों की छाया है। *महानिर्वाणतंत्र* के चौदह उल्लासों में मोक्ष, ध्यान, परब्रह्म, पराप्रकृति, श्रीचक्र, होमचक्र, यज्ञ और हवन की विधि, श्राद्ध, प्रायश्चित्त, व्यवहार, वास्तु और गृहयोग जैसे विषयों का निरूपण है। वैदिक कर्मकाण्ड और तांत्रिक साधना-पद्धतियों, वेदांत तथा शैवधर्म, उपनिषद् दर्शन तथा नवीन समाज सुधारवादी दृष्टि— इन सब का इसमें समन्वय किया गया है। पंच मकारों मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा (भुने अनाज) तथा मैथुन के संतुलित सेवन पर जोर दिया गया है।[25] तंत्र में दीक्षित होने पर वर्ण नहीं रह जाता, यह कहा गया है तथा पंचम वर्ण सामान्य का भी निरूपण किया गया है। पत्नी के साथ मार-पीट करने की कड़ी निंदा इस ग्रंथ में की गयी है[26] और लड़कियों को पढ़ाने की वकालत भी की गयी है।[27] रवींद्रनाथ ठाकुर *महानिर्वाणतंत्र* का अध्ययन करते थे।[28] पण्डितों द्वारा धर्मशास्त्र के नये ग्रंथों के निर्माण के और भी इसी तरह के प्रयास किये गये।

मेक्समूलर द्वारा सम्पादित *ऋग्वेद* के चार खण्ड 1849 से 1875 के बीच छपे। नीरद सी. चौधुरी ने मेक्समूलर की अपनी जीवनी में पुणे के वेदपाठी ब्राह्मणों द्वारा मेक्समूलर की छपी पोथी से अपनी-अपनी पोथियों का मिलान कर अपनी पोथियों को शुद्ध करने के लिए बुलाई गयी एक धर्मसभा का ज़िक्र किया है। वेदपाठियों के बीच यह ग़लत दुष्प्रचार किया गया था कि मेक्समूलर की पुस्तक की छपाई में जो स्याही लगी है, उसमें गाय का ख़ून मिला हुआ है। एक तो कथित रूप से गाय के ख़ून से छपी, फिर एक म्लेच्छ द्वारा सम्पादित और संशोधित। ऐसी पुस्तक को वे छू भी कैसे सकते थे? पर यह बात वे विद्वान् वेदपाठी भी समझ रहे थे कि उनकी हस्तलिखित पोथियों में अशुद्धियाँ हैं, और विदेशी म्लेच्छ पण्डित ने जो किताब बनाई है उसमें पाठ शुद्ध हैं। तब पाठ शोधन भी हो जाएँ, और म्लेच्छ की बनाई पुस्तक छूने का पाप भी न लगे, इसके लिए यह उपाय सोचा गया कि एक अन्य जाति के पण्डित को मेक्समूलर द्वारा प्रकाशित पुस्तक दी जाए, वह पुस्तक को पढ़ता जाए, और सारे पण्डित

---

[25] महानिर्वाणतंत्र, 17.179.78.

[26] वही : 8.39.

[27] वही : 8.95.

[28] सुरेश चंद्र बनर्जी (2004) : 402.

अपनी-अपनी हस्तलिखित पोथियों में पाठ का मिलान करके अपने पाठ सुधार लें। नीरद सी. चौधुरी बताते हैं कि *ऋग्वेद* के तीन खण्डों के सामने आ जाने के बाद मार्टिन हॉग ने पत्र लिख कर पूना में वेदपाठियों की इस बड़ी सभा के आयोजन की जानकारी मेक्समूलर को दी थी। सभा के अंत में वेदपाठियों का निष्कर्ष था कि *ऋग्वेद* का इस तरह का संस्करण कोई ऐसा बड़ा पण्डित ही बना सकता है, जो वेदों और शास्त्रों का पक्का जानकार हो। भवानीशंकर त्रिवेदी ने *मोक्षमूलरवैदुष्यम्* नामक अपने नाटक में वाराणसी में एक विद्वत्सभा का दृश्य अंकित किया है, जिसमें मेक्समूलर के *ऋग्वेद* पर काशी के पण्डित विचार करके उस की प्रामाणिकता को उद्धृत करते हैं। इस प्रसंग की ऐतिहासिकता के लिए कोई प्रमाण त्रिवेदीजी ने नहीं दिया है।

लक्ष्मण शास्त्री तैलंग

ऋग्वेद के चारों खण्डों के प्रकाशन के बाद पारम्परिक पण्डितों ने फिर से सभा करके मेक्समूलर के लिए एक धन्यवाद का पत्र तैयार कर के भेजा। मेक्समूलर के अनेक प्रतिष्ठित भारतीयों से संबंध बनते चले गये। इनमें केशवचंद्र सेन, विवेकानंद, देवेंद्रनाथ ठाकुर, राजेंद्र लाल मित्र, वेद के प्रकाण्ड पण्डित कांता नाथ शास्त्री तैलंग, संस्कृत के पहले विश्वकोश के सम्पादक राजा राधाकांत देव बहादुर, भाऊ दाजी, पारसी समाज सुधारक बेहरामजी मालबारी आदि विभूतियाँ थीं। महिलाओं में रमाबाई अपने इंग्लैण्ड प्रवास में उनके सम्पर्क में रहीं।

अनेक पण्डित ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज तथा आर्य समाज के नये आंदोलनों के साथ रहे। विधवा-विवाह का समर्थन करते हुए ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने संस्कृत में पुस्तिका प्रकाशित की। विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा को लेकर जून 1855 में विद्यासागर ने *बिधवाबिबाह प्रचलितो हुआ उचित कि न— एतद्विषयक प्रोस्ताव* नाम से बंगला में पुस्तक प्रकाशित की। अनेक पारम्परिक पण्डित उनके साथ थे, पर इन पण्डितों को अपने ही समाज से टक्कर लेनी पड़ी और अनेक संकटों का सामना करना पड़ा। राजा राधाकांत देव बहादुर कट्टरपंथी पण्डितों के अगुवा थे। वे स्वयं एक बड़े पण्डित थे और संस्कृत के *शब्दकल्पद्रुम* जैसे विश्वकोश का सम्पादन कर चुके थे। तारानाथ तर्कवाचस्पति की चर्चा इस निबंध में अन्यत्र की गयी है। ईश्वरचंद्र के सम्पर्क में रह कर तारानाथ ने अपनी बेटी को कन्या-पाठशाला में पढ़ने भेजा, जो उन्नीसवीं सदी में एक साहसिक क़दम था। तारानाथ ने विधवा-विवाह के प्रकरण में खुल कर विद्यासागर का साथ दिया। पर विद्यासागर ने जब बहुविवाह के विरुद्ध भी अभियान छेड़ा, तो तारानाथ ने उनका विरोध भी किया। विधवा-विवाह आदि समाज-सुधार के मुद्दों पर विद्यासागर का साथ देने वाले अन्य पण्डित थे गौरमोहन विद्यालंकार, प्रेमचंद्र तर्कवागीश तथा मदनमोहन। मदनमोहन ने भी अपनी बेटी को वेल्थम स्कूल में पढ़ने भेजा। इसके बाद तो संस्कृत कॉलेज या अन्यत्र अध्यापन करने वाले पण्डितों ने अपने वेतन से कन्या पाठशालाएँ क़ायम कीं।

अनेक पण्डित ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज तथा आर्य समाज के नये आंदोलनों के साथ रहे। विधवा-विवाह का समर्थन करते हुए ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने संस्कृत में पुस्तिका प्रकाशित की। विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा को लेकर जून 1855 में विद्यासागर ने *बिधवाबिबाह प्रचलितो हुआ उचित कि न— एतद्विषयक प्रोस्ताव* नाम से बंगला में पुस्तक प्रकाशित की। अनेक पारम्परिक पण्डित उनके साथ थे, पर इन पण्डितों को अपने ही समाज से टक्कर लेनी पड़ी और अनेक संकटों का सामना करना पड़ा।

विधवा-विवाह के अतिरिक्त पण्डितों के बीच जिस विषय को लेकर उन्नीसवीं सदी में लगातार विवाद होता रहा— उनमें से एक था विदेश-यात्रा। तारानाथ ने विदेश-यात्रा का समर्थन किया।
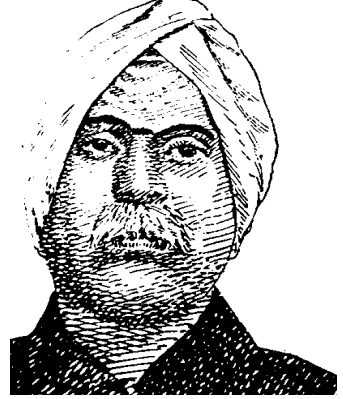
दूसरी ओर बनारस रूढ़िग्रस्त पण्डित-समाज का बड़ा गढ़ बना रहा। यहाँ के पण्डितों ने बंगाल और महाराष्ट्र के पण्डितों द्वारा विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा के सक्रिय समर्थन का डट कर विरोध किया, जब कि काशीवासी पण्डितों में केदारनाथ सारस्वत तथा प्रमथनाथ तर्कवागीश सुधारवादी अभियान के समर्थक थे। शारदा एक्ट पर भी पण्डितों में दो ख़ेमे हो गये थे। मालवीयजी के अछूतोद्धार के अभियान का पंचानन तर्करत्न जैसे पण्डितों ने विरोध किया।[29]

राधाकांत देव ने ब्रह्म-समाज के विरोध में धर्मसभा क़ायम की। धर्मसभा की ओर से *समाचारचंद्रिका* नाम से साप्ताहिक का प्रकाशन किया जाता था। *समाचारचंद्रिका* राजा राममोहन राय के विरोध में बहुत मुखर थी।

महाराष्ट्र में पण्डित विष्णु परशुराम शास्त्री ने विधवा-विवाह के समर्थन में ज़बरदस्त अभियान छेड़ा। महादेव रानाडे उनके साथ थे। विधवा-विवाह को लेकर उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दशकों में उन्होंने कई मंचों पर शास्त्रार्थ कराए। इस सब के परिणामस्वरूप अनेक विधवा स्त्रियों के पुनर्विवाह कराए जा सके।

1850 के आसपास बंगाल की ब्राह्मण सभा ने विधवा-विवाह के प्रश्न पर निर्णय देने के लिए काशी के सबसे बड़े पण्डित के रूप में मान्य राजाराम शास्त्री से अनुरोध किया। राजाराम शास्त्री ने— विधवा-विवाह शास्त्रसम्मत नहीं है— यह साबित करने के लिए एक विस्तृत निबंध लिखा, जिसे देश भर के बड़े-बड़े पण्डितों के पास भेज कर उसके समर्थन में उनसे हस्ताक्षर प्राप्त किये गये। यह पूरा दस्तावेज़ *विधवाविवाहशङ्कासमाधिः* नाम से प्रकाशित किया गया। समर्थन करने वालों में इस पर 52 पण्डितों के हस्ताक्षर थे, जिनकी सूची बलदेव उपाध्याय ने दी है।[30] पर उस दस्तावेज़ के विरोध में सुधारवादी पण्डितों ने भी इसमें दिये गये एक एक तर्क का उत्तर देते हुए मुम्बई से एक दस्तावेज प्रकाशित किया। बालशास्त्री अपने गुरु राजाराम शास्त्री के समर्थन के लिए कटिबद्ध हुए और उन्होंने *विधवाविवाहशङ्कासमाधिः* के प्रतिवादियों को प्रत्युत्तर देते हुए इस निबंध पर अपनी टीका लिखी।[31] बंगाल में ऐसे पण्डितों का साथ देने वाले राखालदास न्यायरत्न ने भी विधवा-विवाह के विरोध में विनिबंध लिखा।

काशी के ये पण्डित शास्त्रनिष्ठा नहीं छोड़ सकते थे, बँधी-बँधाई लीक भी नहीं।

राय कृष्णदास से सम्बद्ध एक संस्मरण में बलदेव उपाध्याय बताते हैं कि राय कृष्णदास के पिता के निधन के पश्चात् उनकी माँ उनकी दोनों बहनों का विवाह करने के लिए प्रयास कर रही थीं। छोटी बहन का एक जगह रिश्ता पक्का हो गया था। वे पण्डित शिवकुमार शास्त्री से इस संबंध में धर्मशास्त्रीय व्यवस्था प्राप्त करने के लिए गयीं कि बड़ी बहिन के अविवाहित रहते छोटी का विवाह किया जा सकता है या नहीं। सोने की एक गिन्नी उन्होंने शास्त्रीजी को दक्षिणा में अर्पित की। शास्त्री ने सारे धर्मशास्त्रों के ग्रंथों के संदर्भ देखे, फिर निर्णय दिया कि ऐसा करना शास्त्रसम्मत न होगा। इसके साथ उन्होंने दासजी की माँ को उनकी दी हुई सोने की गिन्नी लौटा दी, क्योंकि वह इस प्रत्याशा में अर्पित की गयी थी कि वे छोटी बेटी का विवाह पहले होने में शास्त्र बाधक नहीं है— ऐसा कोई विधान ढूँढ़ निकालेंगे। काशी के एक उद्योगपति के पुत्र लक्ष्मी चंद्र अग्रवाल रसायन शास्त्र के अध्ययन के लिए लंदन गये। भारत लौट कर वे अपना उद्योग लगाना चाहते थे, काशी की अग्रवाल सभा ने समुद्र यात्रा का पाप करने के लिए उनका विरोध किया। मामले के निपटारे के लिए पण्डितों की सभा बुलवाई गयी, शिवकुमार शास्त्री को उसमें आमंत्रित किया गया, उन्होंने इस संदेश के साथ आने से इंकार

---

[29] बलदेव उपाध्याय (1994) : 498-99.
[30] वही : 178.
[31] वही : 147-48.

संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता
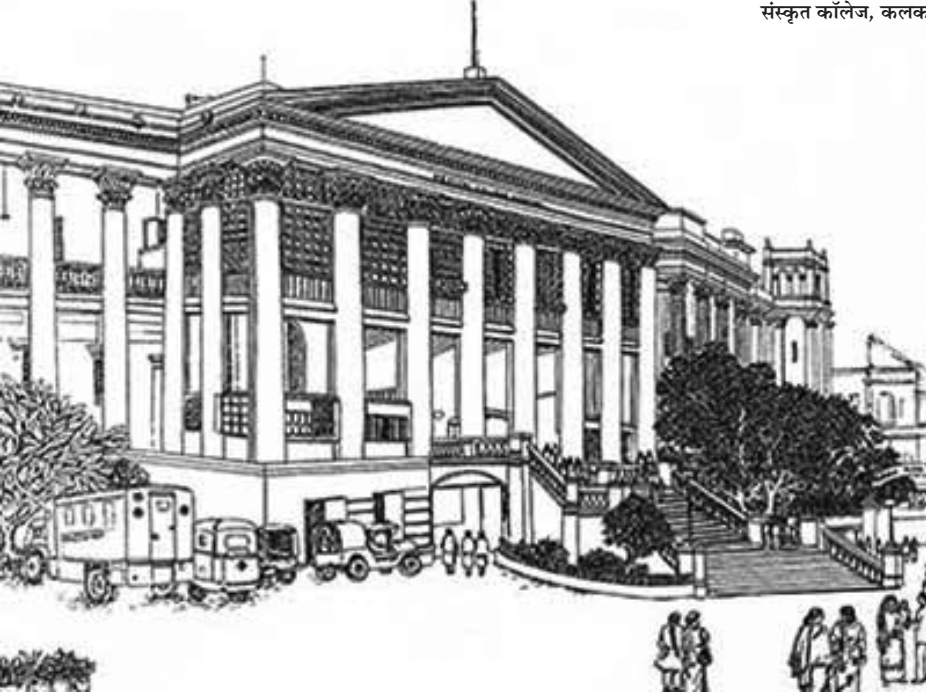
किया कि आप लोगों की सभा समुद्र यात्रा को वैध ठहराने के लिए बुलाई गयी है। मैं ऐसे किसी निर्णय में सम्मिलित नहीं हो सकता।

1911 में ब्रिटिश सरकार ने एक अध्यादेश जारी किया जिसमें असवर्णों को हिंदू धर्म से भिन्न धर्मावलम्बी घोषित करने की छूट दी गयी थी। इस पर काशी के पण्डितों में बवाल मच गया। इस अध्यादेश के विरोध में पण्डितों की विराट् सभा हुई। इस सभा में शिवकुमार शास्त्री द्वारा दिया गया निर्णय सर्वसम्मति से पारित किया गया जो इस प्रकार था— 'अछूत होने से कोई व्यक्ति हिंदू धर्म के क्षेत्र से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। वह उतनी ही मात्रा में हिंदू है जितनी मात्रा में कोई सवर्ण व्यक्ति। अछूत हिंदू समाज का अविभाज्य अंग है।[32] यह धर्म की आड़ में छूआछूत का खुलेआम समर्थन था।

जब राममोहन राय अपनी समस्त आधुनिकता के साथ हिंदू समाज की अग्रगामी सोच को लेकर सामने आ रहे थे, तब राजा राधाकांत देव अतीतोन्मुख मरणासन्न मानसिकता से चिपके हुए थे। पर वे स्वयं प्रकाण्ड पण्डित और पण्डितों के आश्रयदाता थे। इन्हीं राजा राधाकांत देव ने संस्कृत का विश्वकोश *शब्दकल्पद्रुम* उस समय अपनी देखरेख में तैयार करवाया था, जो अपने आप में एक चमत्कार है। मेक्समूलर का यह सौभाग्य था कि वे राजा राधाकांत देव बहादुर के भी प्रशंसापात्र बने और राम मोहन राय तो उनके मुरीद थे ही। राजा राधाकांत देव बहादुर मेक्समूलर को म्लेच्छ मानते थे और म्लेच्छ के रूप में ही उन्हें देखते रहे, पर मेक्समूलर ने जब ऋग्वेद के सटीक सम्पादन का इतना बड़ा काम कर दिखाया तो वे उसकी सराहना किये बिना कैसे रह सकते थे।[33]

राजा राममोहन राय ने धर्मों में पारस्परिक संवाद को ले कर जो पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं, उनका विरोध हर तरफ़ से हुआ— हिंदू धर्म की ध्वजा उठाने वाले पण्डितों की ओर से भी, मुल्लाओं की

---

[32] वही : 150.

[33] विवरण के लिए देखें, राधावल्लभ त्रिपाठी (2016).

ओर से भी और पादरियों की ओर से भी। *ज्ञानचर्चा* (1821) और *वेदांतचंद्रिका* जैसी पत्रिकाएँ या पुस्तिकाएँ विशेष रूप से राममोहन राय के खण्डन में ही प्रकाशित होती थीं।[34] राय ने *वेदांतचंद्रिका* का करारा जवाब अपनी बांग्ला में लिखी अपनी पुस्तक *भट्टाचार्ज साहित बिचार* में दिया।[35] राय ने मद्रास के सुब्रह्मण्य शास्त्री को शास्त्रार्थ में अपनी प्रखर तार्किकता से पराजित किया। इस शास्त्रार्थ को सुनने के लिए भी भारी संख्या में लोग जुटे थे।

राय कई मोर्चों पर अपनी लड़ाई लड़ रहे थे। क्रिश्चियन पादरियों को यह बताने के लिए कि उनके धर्म के श्रेष्ठ तत्त्व वेदांत में समाहित हैं, उन्होंने उपनिषदों का अंग्रेज़ी अनुवाद किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार द्वारा लागू किये गये क़ानून हिंदू स्त्रियों के अधिकारों का हनन करते हैं— यह बताने के लिए उन्होंने 'एस्से आन दि राइट्स ऑफ़ हिंदूज ओवर एन्सेस्ट्रल प्रॉपर्टी' नाम से निबंध लिखा, जो छह खण्डों में प्रकाशित *इंग्लिश वर्क्स ऑफ़ राजा राममोहन राय* के खण्ड दो में सम्मिलित है। 1822 में राय ने *मॉडर्न इंक्रोचमेंट्स आन दि एंशियेंट राइट्स ऑफ़ फ़ीमेल्स एकॉर्डिंग टू हिंदू ला ऑफ़ इन्हेरिटेंस* की रचना की, जिसमें उन्होंने सोद्धरण साबित किया कि हिंदू धर्मशास्त्रों के दायभाग की विकृत व्याख्या के कारण ही सती प्रथा को बढ़ावा मिला है'।[36] राय को दोहरे मोर्चे पर लड़ाई करनी पड़ी। एक ओर रूढ़िवादी पण्डितों से, दूसरी ओर शोषणकारी उपनिवेशवादी ताक़तों से। सती-प्रथा संस्कृत में धर्मशास्त्रों द्वारा समर्थित नहीं है— यह साबित करने के लिए उन्होंने अनेक निबंध लिखे, जिनका रूढ़िवादी पण्डित प्रतिवाद करते रहे। इन पण्डितों के दबाव में विलियम बेंटिक की सरकार ने फ़रमान निकाल दिया कि कोई हिंदू स्त्री अपनी मर्जी से सती हो रही हो, तो उसे न रोका जाए। इससे औरतों को ज़िंदा जलाने की दहलाने वाली घटनाओं में कई गुना बढ़ोतरी हो गयी और अब राय को सती-प्रथा के निवारण के लिए क़ानूनी लड़ाई लड़नी पड़ी।

रामचंद्र तर्कवागीश, मृत्युंजय विद्यालंकार आदि अनेक पण्डितों को आत्मीय सभा या ब्रह्म समाज जैसे सुधारवादी आंदोलनों ने आकृष्ट किया। मृत्युंजय विद्यालंकार राजा राममोहन राय के पहले वे सतीप्रथा के विरोध में एक पुस्तिका लिख चुके थे।[37]

श्यामजी कृष्ण वर्मा दयानंद के उत्तराधिकारियों में उल्लेखनीय हैं। वे इंग्लैण्ड में मोनियर विलियम्स के सहायक रहे। उन्होंने ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध लंदन में जा कर एक मोर्चा खोला।

विवाद के सागर पर सेतु

वारेन हेस्टिंग्ज़ को 1773 में बंगाल का गवर्नर जनरल बनाया गया। हिंदू धर्मशास्त्रों के आधार पर न्यायालयों के प्रकरणों का निर्णय हो सके इसके लिए हेस्टिंग्ज़ एक प्रामाणिक आधारग्रंथ तैयार कराना चाहते थे। इसके लिए बंगाल के जगन्नाथ तर्कपंचानन, बाणेश्वर विद्यालंकार, राधाकृष्ण तर्कवागीश आदि अनेक पण्डितों की सेवाएँ ली गयीं। हेस्टिंग्ज़ के इस उद्यम की परिणति संस्कृत में *विवादार्णवसेतु* नाम से 21 खण्डों के विश्वकोशात्मक ग्रंथ के निर्माण में हुई।[38]

राधाकृष्ण तर्कवागीश ने हेस्टिंग्ज़ के लिए *पुराणार्थप्रकाश* नाम से ग्रंथ का भी निर्माण किया।

विवादार्णवसेतु का पहले फ़ारसी में तथा फ़ारसी से अंग्रेज़ी में अनुवाद कराया गया, जो हेस्टिंग्ज़ के शासनकाल में 1770 में *अ कोड ऑफ़ गेंटू लॉ* के नाम से प्रकाशित हुआ। 1778 में फ़ारसी अनुवाद का जर्मन रूपांतर भी प्रकाशित हुआ। विलियम जोंस ने भी इस ग्रंथ का अंग्रेज़ी में अनुवाद आरम्भ

---

[34] ब्रूस कार्लिस्ले रॉबर्टसन (1995) : 25-27.
[35] वही : 158-59.
[36] सी.ए. बेली (2010) : 23.
[37] मेरी कार्पेंटर (1866) : 103.
[38] श्रीधर भास्कर वर्णेकर (2010) : 380.

किया था, जो उनके निधन के बाद एच.टी. कोलब्रुक ने पूरा करके 1798 में प्रकाशित कराया।[39] इसके साथ ही संस्कृत नये धर्मशास्त्र ग्रंथों के निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी।[40] न्यायालयों में धर्मशास्त्र के अनुसार निर्णय लेने में सहायता के लिए पण्डितों की नियुक्ति की जाने लगी। कृपाराम की *नव्यधर्मदीपिका*,[41] जगन्नाथ पण्डित के *विवादभङ्गार्णव* (1792–94) श्रीधर की *व्यवहारशतश्लोकी* आदि इसी प्रकार के ग्रंथ हैं। *व्यवहारशतश्लोकी* पर पण्डित दुर्गाप्रसाद ने टीका लिखी (1825) जिसका बर्नेल ने अंग्रेज़ी में अनुवाद किया।[42] ये सारे उपक्रम प्रकारांतर से पूर्व और पश्चिम के बीच तथा पारम्परिक पण्डितों और युरोप की सभ्यता के बीच संवाद के सेतु को सुदृढ़ बना रहे थे। इस प्रकार के प्रयासों द्वारा संस्कृत के पण्डितों तथा पश्चिम के प्राच्य विद्याविदों के बीच संवाद का आरम्भ हुआ। पश्चिम के ऐसे प्राच्य विद्याविदों में सर विलियम जोंस, कोलब्रुक, मेक्समूलर, वेलेंटाइन, जान म्यूर, एच.एच. विल्सन आदि के नाम लिए जा सकते हैं। एच.एच. विल्सन ने कलकत्ता तथा काशी में रह कर संस्कृत का अध्ययन किया। पण्डितों की सहायता से उन्होंने *मेघदूत* का अनुवाद किया, जो 1814 में प्रकाशित हुआ। विल्सन भारत में अनेक महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्यरत रहे। 1819–20 के दौरान बनारस संस्कृत कॉलेज में कार्य करते हुए उन्होंने ऑक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर के पद के लिए तैयारी में पण्डितों की सहायता ली, और बाद में उनके प्रति कृतज्ञता भी व्यक्त की। अपने संस्कृत-अंग्रेज़ी कोश में विल्सन ने नामोल्लेख सहित पण्डितों के प्रति आभार व्यक्त किया।

1785 में चार्ल्स विल्किंस ने *भगवद्गीता* का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित किया। यह किसी भी युरोपीय विद्वान् द्वारा मूल संस्कृत ग्रंथ का अध्ययन करके किया जाने वाला पहला अंग्रेज़ी अनुवाद था। इसके दो वर्ष बाद ही विलियम जोंस ने कालिदास के *अभिज्ञानशाकुंतल* का सम्पादन तथा अंग्रेज़ी अनुवाद आरम्भ किया। जोंस द्वारा तैयार किया गया कालिदास के नाटक का मूल संस्करण अंग्रेज़ी अनुवाद के साथ 1789 में प्रकाशित हुआ। साहित्यिक व सांस्कृतिक जगत् में यह एक युगांतरकारी घटना थी। इसके द्वारा पाश्चात्य संस्कृत विद्वानों और भारतीय पण्डितों के बीच सम्पर्क के सेतु निर्मित हुए तथा संस्कृत साहित्य में भी नये वातायनों का उद्घाटन हुआ। पश्चिम से सम्पर्क के साथ नयी राजनीतिक तथा सांस्कृतिक चेतना के उदय के कारण उन्नीसवीं शताब्दी से संस्कृत साहित्य के आधुनिक युग का आरम्भ माना जा सकता है। युरोप से सम्पर्क और नवीन राजनीतिक चेतना ने संस्कृत कविता के क्षेत्र में नये वातायन खोल दिये। पारम्परिक विद्या में दीक्षित पण्डितों ने नये

पण्डिता रमाबाई

संस्कृत के पण्डित समाज ने उन्हें पण्डिता और सरस्वती की उपाधि दी थी। पर इसी समाज ने उन्हें अपार यंत्रणाएँ भी दीं। उनके विवाह और विदेश-यात्राओं में दिये गये वक्तव्यों तथा लेखों के कारण रूढ़िवादी पण्डितों से उनका टकराव हुआ, रमाबाई के मामले में उनके और रूढ़िवादियों के बीच अलंघ्य खाई प्रकट हो कर सामने आ गयी। इन रूढ़िवादियों के सिरमौर महापण्डित बालगंगाधर तिलक थे। रमा देवी ने अपने लेखन और भाषणों से विवादों और संवादों को जन्म दिया। उनके समर्थन में देशमुख, रानाडे, भण्डारकर, तेलंग, आगरकर, ज्योतिबा फुले जैसे पण्डित और समाजसुधारक सामने आये, जब कि तिलक आदि ने उनके विरोध में कोई क़सर न रखी।

[39] जॉन ई. विल्सन (2010) : 10.
[40] वही : 12–13.
[41] श्रीधर भास्कर वर्णेकर (2010) : 299.
[42] सच्चिदानंद मूर्ति (1985) : 116.

युग और नयी विधाओं का चुनौती के भाव से साक्षात्कार किया और रचना की नयी धरती भी खोजी।

बाद में हेस्टिंग्ज़ पर इंग्लैण्ड में मुक़दमा चलाया गया। बचाव पक्ष की ओर से हेस्टिंग्ज़ के शासन को न्यायसंगत ठहराने के लिए उन्हें संस्कृत में दिये गये अभिनंदन ग्रंथों के अंग्रेज़ी अनुवाद 1796 में प्रस्तुत किये गये। अभिनंदनकर्ताओं में काशी के कृष्णभट्ट आर्डे का भी नाम है। 1801 में बाजीराव पेशवा द्वितीय द्वारा कायस्थ प्रभु जाति के वर्णविषयक विवाद पर निर्णय देने के लिए काशी के जिन 81 महाराष्ट्रीय पण्डितों की व्यवस्था प्राप्त की गयी, इसमें कृष्णभट्ट आर्डे भी एक थे।

आर्थर वेनिस 1888 से 1918 तक तीस वर्ष काशी के संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य रहे। ये म.म. कैलासचंद्र तथा म.म गंगाधर शास्त्री को गुरुतुल्य मानते थे। इन्होंने इनसे अध्ययन भी किया। गोपीनाथ कविराज अपने को इनका मानसपुत्र मानते थे, इनके कारण कलकत्ता वि.वि. में साग्रह आमंत्रित किये जाने पर भी काशी छोड़ कर नहीं गये। काशी की पण्डित-परम्परा के साहचर्य में रह कर ही वेनिस *मीमांसापरिभाषा* तथा *वेदांतमुक्तावली* के व्याख्यासहित अंग्रेज़ी अनुवाद कर सके। *मीमांसापरिभाषा* का अनुवाद पण्डित के चतुर्थ खण्ड में प्रकाशित हुआ।

1800 में कलकत्ता में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई। विलियम केरी को इसमें संस्कृत, मराठी तथा बांग्ला भाषाओं का प्रोफ़ेसर नियुक्त किया गया। इस संस्था के माध्यम से अनेक पण्डितों का बाहर के विश्व के साथ नये संवाद का उपक्रम हुआ। बंगाल के पारम्परिक पण्डितों में मृत्युंजय विद्यालंकार की मित्रता विलियम केरी से हुई।

प्रेमचंद तर्कवागीश की नियुक्ति 1826 में इक्कीस वर्ष की आयु में संस्कृत कॉलेज कलकत्ता में हुई। बी. कोवेल उनकी योग्यता से बहुत प्रभावित थे। तर्कवागीश ने कृष्णमोहन मलिक से शेक्सपीयर के नाटकों का अध्ययन किया।

युरोप के प्राच्यविद्या विशारदों में विलियम जोंस, मेक्समूलर, वेलेंटाइन, म्यूर, ए.एच. विल्सन आदि भारतीय पण्डितों के सम्पर्क में आये। विल्सन 1811 से 1823 तक कलकत्ता में एशियाटिक सोसायटी के सचिव रहे। इस अवधि में कलकत्ता के जयगोपाल और प्रेमचंद्र तर्कवागीश से उनके घनिष्ठ संबंध बने। उन्होंने 1814 में *मेघदूत* का अंग्रेज़ी अनुवाद पण्डितों की सहायता से किया, तथा 1819-20 की अवधि में काशी में रह कर ऑक्सफ़र्ड के पद के लिए तैयारी में भी पण्डितों का मार्गदर्शन पाया। अपनी संस्कृत और अंग्रेज़ी के कोश में उन्होंने फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के देशी पण्डितों के मार्गदर्शन में इसके निर्मित होने का ज़िक्र भी किया। विल्सन संस्कृत शिक्षा के हिमायती थे, इसीलिए 1835 में मेकॉले की शिक्षा-नीति के विरुद्ध जब पण्डितों ने अभियान छेड़ा, तो अपने त्राणदाता के रूप में विल्सन का स्मरण किया।

मैकॉले के अवतरण के साथ *विवादार्णवसेतु* के ज़रिये बने संवादों के ये सेतु छिन्न-विच्छिन्न होने लगे।

संकट और आत्मोद्धार

मैकॉले की शिक्षा-नीति भारत की उस सारी शिक्षा-व्यवस्था पर प्रहार था, जो मुस्लिम शासन में भी पहले की तरह फलती-फूलती रही। उसमें अरबी, फ़ारसी और उर्दू की शिक्षा का समावेश अवश्य पिछली तीन चार शताब्दियों में हुआ था। 1835 में प्रस्तावित नयी शिक्षा-नीति ने इसके उच्छेद की शुरुआत की।

यह एक भ्रम है कि संस्कृत पाठशालाएँ केवल पुराने शास्त्रों के अध्यापन तक सीमित थीं, और देश के आधुनिकीकरण के लिए इस नयी शिक्षा-नीति आवश्यक थी। यदि ब्रिटिश-शासन और उसका उपनिवेशवादी दौर न आता, तो संस्कृत पाठशालाएँ ज्ञान-विज्ञान के नये विषयों और विदेशी भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन का अपनी पाठ्यचर्या में समावेश कर के अपने को अवश्य ही अद्यतन बना लेतीं। अंग्रेज़ी शासन ने केवल अंग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा-संस्थानों की स्थापना ही नहीं की, बल्कि

उन्होंने संस्कृत पाठशालाओं की शिक्षण-प्रणाली को केवल प्राचीन शास्त्रों के अध्यापन तक सीमित रहने के लिए बाध्य भी किया। मैकॉले की नीति के लागू होने के पहले हमारी संस्कृत की शिक्षा-व्यवस्था में पाठशाला पद्धति और आधुनिक पद्धति— यह दोहरा विभाजन नहीं था। अंग्रेज़ी शासन ने हमारी शिक्षा-पद्धति और समाज में विभाजन की जो दीवारें खड़ी कीं, वे आज तक बनी हुई हैं। संस्कृत शिक्षा का इससे बड़ा अहित हुआ है। पाठशालाओं या गुरुकुलों से पढ़ कर निकले पण्डितों और आधुनिक ढंग से महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के पढ़ कर निकले प्रोफ़ेसर-पण्डितों के बीच जो खाई औपनिवेशिक दौर में बनी, उसे आज़ादी के बाद और गहरा और चौड़ा किया जाता रहा, यहाँ तक कि ये एक-दूसरे के लिए नासमझी के चलते कहीं-कहीं अजनबी तक बन गये।

मैकॉले की नीति के आते ही हज़ारों की संख्या में पाठशालाएँ, टोल (घरों में चलने वाले गुरुकुल) बंद होते गये। अकेले बंगाल में टोल और पाठशालाओं की संख्या हज़ारों में थी। 1931 में की गयी गणना के अनुसार बंगाल में 2009 टोल चल रहे थे। वर्तमान में इनकी संख्या 600 के क़रीब रह गयी है।[43] हरप्रसाद शास्त्री बताते हैं कि 1861 में नवद्वीप की पाठशालाओं से सौ से ज़्यादा पण्डित उनके पड़ोस में उत्सव के अवसर पर आये थे। 1878 में जब ऐसे ही मौक़े पर फिर पण्डितों को बुलाया गया तो उनकी संख्या कुल मिला कर 26 रह गयी थी। पाठशालाएँ ख़त्म हो रही थीं, क्योंकि अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूलों में पढ़ाई करने पर अच्छी नौकरी मिलने की सम्भावना थी। पाठशालाओं के महामहोपाध्याय कहे जाने वाले शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित जितना वेतन पाते थे, उससे दस गुना वेतन अंग्रेज़ी माध्यम से पढ़ कर निकलने वाले रंगरूट को बाबू की नौकरी करते ही मिल जाता था।

मैकॉले ने देश की शिक्षा-व्यवस्था को व्यावसायिकता की जिस दौड़ में धकेल दिया था, उसमें पलट कर देखना असम्भव हो गया। पण्डितों के मन में यह भय छाने लगा था कि अंग्रेज़ी शिक्षा उनके ज्ञान की सारी धरोहर को विस्थापित ही नहीं, छिन्न-भिन्न कर देगी। अठारहवीं शताब्दी तक पण्डित नयी टीकाएँ या ग्रंथ लिख कर अपने ज्ञान के विस्तार और सृजन की सम्भावनाएँ साकार करते आ रहे थे, उनके लिए पुरानी पोथियाँ सँभाल कर रखना कठिन होता जा रहा था। अंग्रेज़ या युरोप के लोग इन्हें ले जा रहे थे। पण्डितों की अंग्रेज़ीदाँ संतानें या तो पुरानी पोथियों को अपने लिए बेकार मान कर उन्हें नष्ट हो जाने दे रही थीं, फेंक रही थीं, या विदेशियों के हाथों में सौंप रही थीं। पण्डित को अपने ही घर में विस्थापित किया जा रहा था, अपनी विपन्नता में भी जिस सम्मान के बल पर वह ठाठ से रह सकता था, वह भी उससे छिनता जा रहा था।

विलियम बैंटिक ने बंगाल में शिक्षा-व्यवस्था पर प्रतिवेदन तैयार करने के लिए विलियम एडम को नियुक्त किया था। एडम ने अपनी रिपोर्ट में पण्डितों की पीड़ा के विषय में टिप्पणी की है तथा पश्चिमी ज्ञान- विज्ञान के ग्रंथों के संस्कृत में अनुवाद करने के काम में उनकी ओर से सहायता करने के प्रस्ताव की सूचना भी दी है। एडम को दिये गये प्रस्ताव पर पारम्परिक पण्डितों के हस्ताक्षर भी हैं।[44]

शेल्डन पोलोक की धारणा है कि पण्डितों में समवेत अभियान के लिए संगठित होने की प्रवृत्ति अत्यल्प रही है। उन्हें पिछली कुछ शताब्दियों से पण्डितों की सामूहिक गतिविधियों में कुल मिला कर तीन सामान्य से उदाहरण मिले हैं— वाराणसी में कवींद्राचार्य सरस्वती के अभिननंदन ग्रंथ के लिए 1650 में पण्डितों के समुदाय का जुटना, दूसरा वारेन हेस्टिंग्ज़ को पण्डों द्वारा ज्ञापन, तीसरा मुम्बई प्रेसिडेंसी के अधिकारियों के समक्ष क़रीब 800 पण्डितों द्वारा की गयी अपील।

वस्तुतः काशी, बंगाल तथा अन्य स्थानों पर पण्डितों द्वारा विशेष उद्देश्य से संगठित हो कर

[43] मानवेंदु बनर्जी और करुणासिंधु दास (2012) : 4-5.
[44] एस. माइकेल डॉडसन (2007) : 85.

अभियान छेड़ने के कई अधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण मिलते हैं। इनमें से एक मैकॉले की नीति की घोषणा के पश्चात् बंगाल के पण्डितों द्वारा उसके विरोध का है। इस सिलसिले में जयगोपाल तथा प्रेमचंद्र तर्कवागीश ने संस्कृत में पद्यबद्ध करुण पत्र एच.एच. विल्सन को भेजे थे।[45] विल्सन ने दोनों पत्रों का संस्कृत कविता में ही बहुत सुंदर पर चिकनाचुपड़ा-सा उत्तर दिया।[46] पण्डित समझ सकते थे कि विल्सन के किये कुछ होने का नहीं है।

ज्ञान-परम्पराओं पर आये संकट के निवारण के लिए पण्डितों ने एक अन्य रणनीति अपनायी। वह प्रशस्ति की थी। संस्कृत में रानी विक्टोरिया और जार्ज पंचम की ढेरों प्रशस्तियाँ लिखी गयीं। भारतेंदु के नेतृत्व में काशी के पण्डितों ने *मानसोपायनम्* नाम से ग्रंथ रानी विक्टोरिया के सम्मान में अर्पित किया। एडिनबरा के ड्यूक के भारत आगमन पर 1870 में उन्हें *सुमनोञ्जलिः* के नाम से संस्कृत कविताओं का एक संकलन भेंट किया गया। इसमें हिंदी की कविताओं के साथ पंद्रह संस्कृत कविताएँ भी थीं। पर इन कविताओं में देश की स्थिति के गहरे संकेत थे। जैसे कि इस कविता में—

दीनानां खलु दीनकर्पटभृतां क्षुत्पीडितानां गृहे।
गत्वा सान्त्वनकारिणा द्विगुणितं दुःखं त्वदालोकनात्॥

रानी विक्टोरिया के राज्याभिषेक के अवसर पर प्रमदादास मित्र ने काशी के पण्डितों तथा गणमान्य नागरिकों का सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में पारित प्रस्तावों में से एक नये धर्मशास्त्र की रचना को लेकर था। गंगाधर शास्त्री से इस काम के लिए अनुरोध किया गया, जिसे स्वीकार करके गंगाधर शास्त्री ने *शाश्वतधर्मदीपिका* नाम से धर्मशास्त्र के ग्रंथ की रचना की जो *पण्डित* पत्रिका में प्रकाशित हुआ।[47]

दूसरी संगठित गतिविधि जिससे पण्डित जुड़े वह प्रिंट मीडिया था। उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक पण्डितों ने अख़बारों में अपने लेखन से नवजागरण के उदय में योगदान दिया।

निर्णयसागर प्रेस का छपाई के इतिहास में अद्वितीय योगदान है। इस प्रेस और इसी नाम के इसके प्रकाशन से छपी काव्यमाला सीरीज संस्कृत साहित्य के अध्ययन के पुनर्जागरण का जीवंत नमूना है। दुर्गाप्रसाद परब, भट्ट मथुरानाथ शास्त्री जैसे अनेक पण्डितों ने निर्णयसागर से छपने वाली संस्कृत ग्रंथों की शृंखला के लिए प्रामाणिक संस्करण तैयार करने में अथक श्रम किया। दूसरी और क्षेत्रीय भाषाओं के अख़बारों ने पण्डितों का सहयोग लिया। बंगला में *विश्वदर्पण, कल्पद्रुम, परिमलवाहिनी, शब्दार्थसंग्रह, बंगबासी, कलिकापुर गजेट* आदि अख़बारों के सम्पादन से संस्कृत पण्डितों का सहयोग था। *उदंतमार्तण्ड* हिंदी का पहला अख़बार है। इसमें आदर्श वाक्य के रूप में संस्कृत का एक पद्य छापा जाता था। पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने *मतवाला* पत्रिका में नरोत्तम शास्त्री गांगेय का अंग्रेज़ों पर द्व्यर्थक शब्दावली में तीखा प्रहार करने वाला व्यंग्य और विडम्बना का काव्य *लण्डनचरितम्* प्रकाशित किया। दामोदर सातवलेकर ने प्रकाशन के इतिहास में कीर्तिमान क़ायम किया। जीवानंद विद्यासागर तारानाथ तर्कवाचस्पति के पुत्र थे। उन्होंने संस्कृत के 107 ग्रंथों पर टीकाएँ लिखी और स्वयं प्रकाशित कीं। उन्होंने *कथासरित्सागर* का 1400 पद्यों में संस्कृत रूपांतर तैयार किया। *क़ादम्बरी* और

---

[45] अस्मिन् संस्कृतपाठसद्मसरसि त्वत्स्थापिता ये सुधी-
हंसाःकालवशेनपक्षरहिता दूरं गते ते त्वयि
तत्तीरे निवसन्ति सम्प्रति पुनर्व्याधास्तदुच्छत्तये
तेभ्यस्त्वं यदि पासि पालक तदा कीर्तिश्चिरं स्थास्यति॥

[46] विधाता विश्वनिर्माता हंसस्तत् प्रियवाहनम्। अतः प्रियतरत्वेन रक्षिष्यति स एव तान्॥
अमृतं मधुरं सम्यक् संस्कृतं हि ततोऽधिकम्। देवभोग्यमिदं यस्माद् देवभाषेति कथ्यते॥।
न जाने विद्यते किं तन्माधुर्यमिव संस्कृते॥ सर्वदैव मधून्मत्ता येन वैदेशिका वयम्॥
यावद् भारतवर्षं स्याद् यावद् विन्ध्यहिमालयौ। यावद् गङ्गा च गोदा च तावदेव हि संस्कृतम्॥
[समित सिन्हा (1993) : 161].

[47] नारायण शास्त्री खिस्ते (1997) : 13.

दशकुमारचरित जैसे ग्रंथों के भी इसी तरह तैयार किये गये उनके रूपांतर भी खूब पढ़े जाते थे।

प्रेमचंद तर्कवागीश के संस्कृत पद्य *संवादप्रभाकर* में मुखपृष्ठ पर प्रकाशित होते थे। और भी कई अख़बार उस समय के संस्कृत कवियों और पण्डितों की रचनाएँ प्रमुखता से प्रकाशित करते थे।[48]

केदारनाथ सारस्वत बनारस में रणवीर संस्कृत पाठशाला में अध्यापक रहे, इन्होंने मालवीयजी के हरिजन मंत्र दीक्षा के सुधारवादी अभियान का समर्थन किया और पण्डितों को इससे जोड़ने के लिए *संस्कृत साहित्य समाज* की स्थापना की तथा *सुप्रभातम्* नाम से मासिक पत्रिका शुरू की। ये लगन से उसका सम्पादन करते रहे। हिंदी में *क्रोडपत्र* नाम से पत्रिका का भी ये सम्पादन करते रहे।

पण्डिता क्षमा राव

पण्डिता क्षमाराव की साहित्य साधना ने संस्कृत साहित्य में नवोन्मेष के अनुद्घाटित द्वार खोले हैं। यह क्षमादेवी के नारीहृदय की संवेदना और अनुभूतिप्रवणता ही थी, जिसके कारण गीता की विधा को उन्होंने राष्ट्र के नवजागरण के शंखनाद से गुंजित करते हुए संस्कृत में नवयुग का नया काव्य रचा। ... संस्कृत में उन्होंने अनेक विधाओं में लेखनी चलाई तथा यात्रावृत्त और जीवनी जैसी विधाओं का संस्कृत में नया उपक्रम किया। उनकी स्वातंत्र्य आंदोलन तथा गाँधी चरित्र पर महाकाव्यत्रयी यथार्थबोध तथा भाषा की सहजता के कारण उल्लेखनीय है। यह महाकाव्यत्रयी संस्कृत साहित्य में अभिनव सोपानसरणि का निर्माण है।

हमारे समय में पण्डित

दयाकृष्ण तथा एम.पी. रेगे ने पारम्परिक पण्डितों तथा आधुनिक दार्शनिकों के बीच संवाद स्थापित करने के लिए कार्यशालाएँ आयोजित कीं। जयपुर, पूना, वाराणसी, वाई और वाराणसी इन गतिविधियों के केंद्र थे। इन कार्यशालाओं में बदरीनाथ शुक्ल, रामचंद्र द्विवेदी, प्रह्लादाचार्य तथा अरिंदम चक्रवर्ती जैसे पण्डितों की अद्यतनता प्रमाणित हुई। बाद में दयाकृष्ण ने अपने इन प्रयोगों को लेकर हताशा भी प्रकट की।

दयाकृष्ण ने संस्कृत के पारम्परिक पण्डितों का आधुनिक दार्शनिकों के साथ संवाद का एक उपक्रम किया था। इससे यह बात तो स्थापित हुई कि हमारी शास्त्र-परम्परा नये युग में कितनी गतिशील है, और वह किस तरह अपने आप को सत्यापित और पुन: चरितार्थ कर सकती हैं। वह नये पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर सकती है। जिस चिंतन परम्परा में पूर्वपक्ष रचे जाने बंद हो जाएँ, वह मृत हो जाती है।

यह क्रम अभी ठहरा नहीं है। गोविंद चंद्र पाण्डेय ने *सौंदर्यदर्शनविमर्श:* में वेदांत के अध्यासवाद तथा अभिनवगुप्त के आभासवाद के आधार पर सौंदर्यतत्त्व की व्याख्या की है। प्लेटो, हिगेल और मार्क्स के मतों से असहमति जताते हुए पाण्डेयजी सौंदर्यबोध की प्रक्रिया को आत्मबोध की प्रक्रिया से समाकारिता स्थापित करते हैं। साथ ही वे इस प्रक्रिया को सांस्कृतिक बोध तथा जीवन-मूल्यों से भी जोड़ कर देखते हैं।

हल्बफ़ास अपनी पुस्तक *इण्डिया ऐंड यूरोप* में गोपीनाथ कविराज या गोविंद चंद्र पाण्डेय का उल्लेख क्यों नहीं करते— यह चिंत्य है।

उत्तर-आधुनिक विमर्श में पण्डित की प्रासंगिकता का एक

---

[48] सिन्हा (1993) ने निम्नलिखित पद्य इस संदर्भ में उदाहृत किया है—

सतां मनस्तामरसं प्रभाकर:
सदैव सर्वेषु मम प्रभाकर:।
उदैति भास्वत्सकल: प्रभाकर:
सदर्शसंवादनव: प्रभाकर:॥

उदाहरण आस्कर पूजोल द्वारा सम्पादित पुस्तक *फ्रॉम गंगेज़ टु मेडिटेरियन ए डायलाग बिट्वीन कल्चर्स ऑफ़ युरोप* है। यह स्पेन के विद्वान् दार्शनिक और साहित्यकार राफ़ेल आर्गुलाइ के साथ विद्यानिवास मिश्र के संवादों का दस्तावेज़ीकरण है। ये संवाद दो परस्पर विपरीत मानी गयी सभ्यताओं और परम्पराओं के दो तेजस्वी प्रतिनिधियों के बीच मतभेद के साथ पारस्परिक तालमेल व बढ़ती समझ का उदाहरण है।

मिश्रजी ने लेबिनीज की प्रख्यात अवधारणा 'फ़िलासाफ़िया पैरिनिस' के संदर्भ में माना कि दो संस्कृतियों के बीच खुला संवाद सम्भाव्य है, भले ही उनकी दिशाएँ भिन्न हों। राफ़ेल प्रश्न करते हैं कि क्या भारतीय परम्परा में आत्ममोह की प्रवृत्ति, आत्मसंकुचन की प्रवृत्ति प्रभावी है? इसके उत्तर में मिश्रजी ने माना कि भारतीय परम्परा में विशेष अवसरों पर अपने आप को अपने खाँचों में बंद करने की प्रवृत्ति रही है। मिश्रजी यहाँ मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की चतुर्विध चेतना भूमियों के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की नयी व्याख्या करते हैं, स्पंद को आज के विज्ञान की दृष्टि से परिभाषित करते हैं। कालबोध को लेकर दोनों संवादकर्ता प्राच्य और पाश्चात्य अवधारणाओं की मीमांसा करते हैं। मिश्रजी के अनुसार जीवन एक है। जीवन एक निरंतरता है। मृत्यु मात्र एक रूपांतरण है। जीवन ऐसे तत्त्वों से विनिर्मित है, जो परस्पर अवलम्बित हैं।

दोनों संवादकर्ता स्वीकार करते हैं कि सारे विसंवाद और दूरियों के चलते सौंदर्यदर्शन व कलाओं के माध्यम से संवाद सहज सम्भाव्य है।

भारतीय परम्पराओं के संदर्भ में मिश्रजी कहते हैं कि उनके केंद्र और परिधियाँ गतिशील और परिवर्तनशील रहे हैं। वैश्विक गति कई केंद्रों व कई परिधियों से निर्मित होती है।[49] केंद्रों की अनेकता तथा केंद्रों और परिधियों के बीच द्वंद्वात्मकता से वे ब्रह्माण्ड की गतिशीलता को निरूपित करते हैं। ऑस्कर पूजोल के हस्तक्षेप में स्पेनिश दार्शनिक राफ़ेल आर्गुलाइ के साथ हुए इन संवादों में युरोप की समीक्षात्मक मेधा का भारतीय प्रज्ञा के साथ संयोग हुआ है। राफ़ेल युरोप के अंतर्विरोधों पर प्रकाश डालते हैं। उपनिवेशवाद तथा प्रकृति के विरुद्ध संग्राम ने युरोप को विनाश की कगार पर पहुँचा दिया है। अकेलेपन का अनुभव युरोप में भी है, भारत में भी। विद्यानिवास मिश्र कहते हैं कि युरोप का आदमी अपने कर्म और उपलब्धियों की परिणति में अकेलेपन पर जा कर चुक जाता है, भारत के लोग अकेलेपन से आरम्भ करते हैं, पर उससे उबरते हैं। इस चर्चा में अनेक मिथक टूटते हैं— विकास का मिथ, स्वर्णयुग का मिथ, अतीत की स्वर्गीयता का मिथ। मिश्र यथार्थ की व्याख्या स्पंदतत्त्व के आधार पर करते हैं। वे स्पंद की ऊर्ध्व और क्षैतिज परिणतियों की चर्चा करते हैं। न्याय-वैशेषिक के अवयव-अवयवी के सिद्धांत के आधार पर यथार्थ की व्याख्या करते हैं। अनुभविक काल और मनो-वैज्ञानिक काल में अंतर पर भी दोनों संवादकर्ताओं ने बात की है। कर्मकाण्ड आद्य सृष्टि के कर्म की अनुकृति है। देवता सिद्ध नहीं वह आह्वान की प्रक्रिया में विरचित होता है। व्यक्ति और विश्व के बीच के संबंध को पत्ती और पेड़ के दृष्टांत से समझाते हैं। अनेक देवता हैं अनेक केंद्र। इन केंद्रों में अपसरण चलता रहता है।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक पण्डितों की जो जमात बहुत सक्रिय और स्फूर्त थी, वह बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में और इस सदी में पृष्ठभूमि में चली गयी है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में पण्डितों ने जो आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाए थे, उनके पीछे का वह स्फूर्त भाव चुक गया लगता है। पर पण्डितों की एक युवा पीढ़ी उभर रही है, जो अपने समय के प्रति अधिक उत्तरदायी है। अंततः पण्डित समय के आगे हारे नहीं हैं, न वे अपने दायित्व से च्युत ही हुए हैं। समाज ने उन्हें पहचानना बंद कर दिया है— यह बात अलग है।

---

[49] विद्यानिवास मिश्र (2013) : 95.

संदर्भ-ग्रंथ व लेख

एस. माइकेल डॉडसन (2007), *ओरिएंटलिज़्म, एम्पायर ऐंड नैशनल कल्चर इन इण्डिया,* 1770–1880, पालग्रेव, बेसिंगस्टॉक तथा न्युयॉर्क.

किरण टण्डन (2001)(सं.), *गुमानीरचनावली* , ईस्टर्न बुक लिंकर्स, नयी दिल्ली.

के. सच्चिदानंद मूर्ति (1985), *फ़िलॉसफ़ी इन इण्डिया,* मोतीलाल बनारसी दास तथा भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नयी दिल्ली.

केदारनाथ ओझा (1978), *विद्यावैजयंती निबंधमाला* ,भाग –1, मुमुक्षु भवन, अस्सी, वाराणसी.

गंगानाथ झा (1976), 'ऑटोबायोग्राफ़िकल नोट्स ऑफ़ सर गंगानाथ झा', *जर्नल ऑफ़ गंगानाथ झा केंद्रीय संस्कृत विद्यापीठ,* इलाहाबाद.

गोपीनाथ कविराज (1965), *काशी की सारस्वत साधना,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना.

जयदेव सिंह तथा अन्य (1986), *अर्चा स्मृति,* महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज शताब्दी समारोह समिति, माता आनंदमयी आश्रम, वाराणसी.

जॉन. ई. विल्सन (2010), 'एंग्ज़ाइटीज़ ऑफ़ डिस्टेंस : कोडिफ़िकेशन इन अर्ली कोलोनियल बंगाल', सं. कपिला श्रुति, *ऐन इंटेलैक्चुअल हिस्ट्री फ़ॉर इण्डिया,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

नारायण शास्त्री खिस्ते (1997), *विद्वच्चरितपञ्चकम्,* प्रथम प्रकाशन 1928, गोपीनाथ कविराज की भूमिका सहित, द्वितीय (सं.) सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.

पीयूषकांत दीक्षित (2012), 'देहात्मवाद ऑर बॉडी एज़ सोल : एक्सप्लोरेशन ऑफ़ पॉसिबिलिटी विदिन न्याय थॉट', *इण्डियाज़ इंटैलेक्चुअल ट्रेडीशंस,* सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.

बदरीनाथ शुक्ल (वि. संवत् 2040,), *न्यायदृष्ट्या देहात्मवादस्य सम्भावना,* सरस्वती सुषमा खण्ड XXXVIII, संख्या 3–4, मार्गशीर्ष–फाल्गुन पूर्णिमा.

ब्रूस कार्लिस्ले रॉबर्टसन (1995), *राजा राममोहन रॉय : द फ़ादर ऑफ़ मॉडर्न इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

बलदेव उपाध्याय (1994), *काशी की पाण्डित्य परम्परा,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.

भरत मिश्र (तिथि अनांकित), 'परमार्थदर्शन पर विद्यानिधि प्रारम्भिक प्रवचन', (सं.), रामेश्वर ब्रह्मचारी, परमार्थीय ग्रंथमाला कार्यालय, मुमुक्षुभवन, वाराणसी.

भीमाचार्य (1978), *न्यायकोश,* भण्डारकर प्रा.वि.सं.मं. पुणे.

मानवेंदु बनर्जी और करुणासिंधु दास (सं.)(2012), *कंट्रीब्यूशन ऑफ़ दि ट्रेडीशनल पण्डित्स ऑफ़ बेंगाल,* संस्कृत साहित्य परिषद्, कलकत्ता.

मिशेल एक्सेल (सं.)(2001), *दि पण्डित : ट्रेडीशनल स्कॉलरशिप इन इण्डिया,* मनोहर, नयी दिल्ली.

मीरा कोसाम्बी (2003) (सं.), *रिटर्निंग दि अमेरिकन गेज़ : पण्डिता रमाबाईज़ 'दि पीपुल ऑफ़ युनाइटेड स्टेट' (1889),* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

मेरी कार्पेंटर (1866), *लास्ट डेज़ ऑफ़ राजा राममोहन राय,* चतुर्थ सं. 1997, राममोहन राय लाइब्रेरी ऐंड फ्री रीडिंगरूम, कलकत्ता.

रमेश चंद्र मजूमदार (1971), 'ऑन राममोहन राय', प्रथम सं., पुनर्मुद्रण, 2009, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता.

राजाराम शुक्ल ( ), 'आचार्यशुक्लाभिमतदेहात्मवादसमीक्षणम्', *उन्मीलन,* जयपुर.

राधावल्लभ त्रिपाठी (2013), *क्षमादेवी राव,* भारतीय साहित्य के निर्माता शृंखला, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.

------------ (2016), *वाद इन थियरी ऐंड प्रेक्टिस : स्टडीज़ इन डिबेट्स, डायलॉग्स ऐंड डिस्कशंस इन इण्डियन इंटेलेक्चुअल ट्रेडीशंस,* भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला तथा डी.के. प्रिंट वर्ल्ड, नयी दिल्ली.

------------(2018), 'रामावतार शर्मा और उनका परमार्थदर्शन ', *उन्मीलन,* अंक 10.32.2, जुलाई–दिसम्बर.

------------(2018), *संवादोपनिषद्,* भारत अध्ययन केंद्र, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी.

------------(2018), *संस्कृत साहित्य का समग्र इतिहास,* चार खण्ड, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, नयी दिल्ली,

रामचंद्र झा (1985), *स्मृतिरेखा,* कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा.

रामावतार शर्मा (1908), *गोपालबसु मलिक लैक्चर्स आन वेदांतिज़्म,* कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता.

---------(1911-13), *परमार्थदर्शनम्*, द्वितीय संस्करण 1994, सं. जनार्दनशास्त्री पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.

लक्ष्मण शास्त्री जोशी (1948), *अ क्रिटीक ऑफ़ हिंदुइज़्म*, अंग्रेज़ी अनु. जी.डी. पारिख, मॉडर्न ऐज़ पब्लिकेशंस, मुम्बई. मूल मराठी संस्करण, 1941.

विद्यानिवास मिश्र (2008), *फ्रॉम गैंगेज़ टु मेडिटेरेनियन : अ डायलाग बिट्वीन दि कल्चर्स ऑफ़ इण्डिया ऐंड युरोप*, शुभि पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

-----------(2013), *गंगातट से भूमध्यसागर तक*, हिंदी रूपांतर : नर्मदा प्रसाद उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

शिवप्रसाद (1869), 'मोक्षमूलरकृत ऋग्वेदानुवाद' : *पण्डित पत्रिका-4*, संख्या 41, अक्तूबर.

शेल्डन पोलोक (2001), 'दि डेथ ऑफ़ संस्कृत', *कम्पेरेटिव स्टडीज़ इन सोसायटी ऐंड हिस्ट्री*, 43.2.

सदाशिव आठवळे (1958,), *चार्वाक इतिहास आणि तत्त्वज्ञान*, प्रज्ञा पाठशाला, वाई, प्रथम सं. .

समित सिन्हा (1993), *पण्डित्स इन अ चेंजिंग इनवायरनमेंट*, सरत बुक हाउस, कलकत्ता.

सी.ए. बेली (2010), 'राममोहन राय ऐंड दि एडवेंट ऑफ़ कांस्टीट्यूशनल लिबरलिज़म', सं. कपिला श्रुति, *ऐन इंटलैक्चुअल हिस्ट्री फ़ॉर इण्डिया*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

सुरेश चंद्र बनर्जी (2004), *संस्कृत कल्चर ऑफ़ बंगाल*, शारदा पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

सौम्येंद्रनाथ टैगोर (1975), *राममोहन राय : हिज़ रोल इन इण्डियन रिनेंसा*, दि एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता.

हरप्रसाद शास्त्री (1928), *संस्कृत कल्चर इन मॉडर्न इण्डिया*, पंचम अखिल भारतीय प्राच्य विद्यासम्मेलन में अध्यक्षीय भाषण, लाहौर.

हरिमोहन झा (1986), *परमार्थदर्शन : संक्षिप्त परिचय*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना.

हीरालाल शुक्ल (1989), *संस्कृत का समाजशास्त्र*, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली.

श्रीधर भास्कर वर्णेकर (2010) *संस्कृत वाङ्मय कोश भाग 1*, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

संस्कृत-ग्रंथ

जे.एल. गुप्त (सं.)(2003),*महानिर्वाणतंत्र*, अंग्रेज़ी अनु. एम.एन. दत्त, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नयी दिल्ली.

नारायण गुरु (2007),*नारायणस्मृति*, डी.के. प्रिंट वर्ल्ड, नयी दिल्ली.